जैन पर्व

— लेखक —

डॉ. रमेशचन्द जैन
एम. ए. पी-एच. डी., डी. लिट्. जैनदर्शनाचार्य
अध्यक्ष–संस्कृत विभाग
वर्द्धमान कालेज, बिजनौर, उ० प्र०



साहू इन्द्रसेन जैन, नजीबाबाद
(बिजनौर) की स्मृति में प्रकाशित

प्रकाशक
पार्श्वज्योति मंच
बिजनौर, उ० प्र.

प्रथम संस्करण १९९१
वीर निर्वाण संवत् २५१७
मूल्य :

मुद्रक :
वैशाली प्रेस, बिजनौर
उ० प्र०

लेखक की रचनायें

१- पावन तीर्थ हस्तिनापुर
२- अहिच्छत्रा की पुरासम्पदा ५०-००
३- पद्मचरित में प्रतिपादित भारतीय संस्कृति ५०-००
४- समराइच्चकहा (अनुवाद)
५- समाधितन्त्र (सम्पादन)
६- इष्टोपदेश (सम्पादन)
७- भक्तामर स्तोत्र (अनुवाद)
८- आराधना कथा प्रबन्ध (अनुवाद) ३०-००
९- जैन पर्व
१०- भावसंग्रह (अनुवाद)
११- नीतिशतक (")
१२- शिशुपाल वध प्र.सर्ग (अनुवाद)
१३- नैषधीयचरितम् तृ.सर्ग (")
१४- माण्डूक्योपनिषद् (")
१५- बुद्धचरितम् प्र. सर्ग (")
१६- शिवराजविजय (पंचम निश्वास)

सुप्रसिद्ध समाजसेवी, उदारमना विचारक, कर्मठकार्यकर्त्ता
एवं धार्मिक तथा आध्यात्मिक रुचि सम्पन्न

साहू इन्द्रसेन जैन, नजीबाबाद

जिला बिजनौर (उ० प्र०)

जिनकी स्मृति में उनके अपनों ने यह कृति प्रकाशित कराकर
समाज को भेंट की है।



साहू इन्द्रसेन जैन, नजीबाबाद

जन्म– १३ जून १९१७ पुण्यतिथि– ८ दिसम्बर १९८६



दो शब्द

कई वर्ष पूर्व एक बड़ी प्रकाशन संस्था ने यह योजना बनाई थी कि जैनधर्म और दर्शन के प्रमुख विषयों पर एक–एक १०० पृष्ठ की लघुपुस्तिका प्रकाशित की जाय। तदनुसार मुझे 'जैनपर्व' पर एक पुस्तक लिखने को प्रेरित किया गया था। पुस्तक मैंने तैयार कर ली, किन्तु उक्त संस्था आमन्त्रण देकर मौन हो गई। लगता है संस्था की योजना खटाई में पड़ गई, क्योंकि इस योजना के अन्तर्गत उनका कोई साहित्य प्रकाश में नही आया। कई वर्ष बाद मैंने अपने पुराने मित्र साहू इन्द्रसेन जी नजीबाबाद की धर्मपत्नी श्रीमती लक्ष्मी देवी से उक्त पुस्तक के प्रकाशन का अनुरोध किया, उन्होंने तथा उनके परिवार ने सहर्ष आदरणीय साहू सा. की स्मृति में उक्त पुस्तक प्रकाशन की अनुमति दे दी। मुझे प्रसन्नता है कि मैं अपने स्नेही, सरल स्वभावी मित्र, जिन्हें मैं उम्र में काफी बड़ा होने के कारण 'चाचा जी' कहा करता था और जिनके सान्निध्य में अत्यधिक आत्मीयता और निकटता का अनुभव करता था, उनकी स्मृति में इस पुस्तक को प्रकाशित होते देख रहा हूँ। अपनों की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए ग्रन्थ प्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, धर्म, दर्शन और साहित्य प्रेमी जनों को इसका अनुसरण करना चाहिए। पुस्तक के मुद्रण कार्य में श्री महमूद हसन एव काशी राम पँवार ने तत्परता दिखलाई, एतदर्थ धन्यवाद। जैन पर्वो के सम्बन्ध में मैंने सर्वसाधारण को दृष्टि में रखकर लिखा है, मुझे आशा है, इस कृति का समादर होगा। वीर प्रभु इस प्रकार की रचनाओं में मेरे नयनपथगामी हों।

१६ अप्रैल १६६१ ई. —रमेशचन्द जैन



* विषयानुक्रमणिका *



पर्व और उसकी विशेषतायें

पर्व शब्द का अर्थ — संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में पर्व धातु का अर्थ पूरा करना ※ बतलाया गया है। पर्व् धातु से कनिन् प्रत्यय अथवा पृ धातु से वनिप् प्रत्यय जोड़कर पर्वन् शब्द बनता है। जिसका अर्थ होता है ग्रन्थि, जोड़, गाँठ, शरीरावयव, अङ्ग, अंश, भाग, टुकड़ा, पुस्तक का भाग, जीने की सीढ़ी, अवधि, निर्दिष्ट काल विशेषकर प्रतिपक्ष की अष्टमी चतुर्दशी तथा एवं अमावस्या, चन्द्र या सूर्य ग्रहण, उत्सव तथा अवसर आदि ×। पर्व शब्द का अर्थ पवित्र भी होता है। पृ धातु का अर्थ होता है प्रसन्न होना, क्रियाशील होना, कामकाज में लगा रहना ■। पर्व शब्द अपने में व्यापक अर्थ को छिपाए हुए है। मनुष्य किसी कार्य को करते-करते जब पूर्णता की पराकोटि को छूने लगता है तो उसमें अथाह उमंगों और खुशियों का सागर हिलोरें लेने लगता है, इसीलिए पूर्णतावाची पर्व शब्द ही मनुष्य के लिए उमंगों और खुशियों को लाने वाले दिन के रूप में प्रचलित हो गया।

पर्व शब्द का एक अर्थ ग्रन्थि, गाँठ या जोड़ होता है। ग्रन्थि गाँठ या जोड़ दो वस्तुओं में ही लगती है। इस प्रकार पर्व एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर जाने का संकेत देता है। इस अवस्था में एक नवीन दिशा, नवीन जागृति और नई प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार पर्व मार्ग दर्शक है, दिशासूचक है, संकेत दायक है। एक मोड़ की ओर ले जाने में निमित्त है। पर्व का सन्देश है कि ८४ लाख योनियों में अनेक बार जीव ने यात्रायें की हैं, अब उसके जीवन में मोड़ की आवश्यकता है। मिथ्यात्व भाव की यात्रा को छोड़कर सम्यक्त्व भाव की यात्रा करनी है, एक भिन्न मोड़ पर आना है। अभी तक मिथ्यात्व में जो यात्रा की थी वह कोल्हू के बैल की तरह यहीं संसार में ही भ्रमण कराने वाली थी, मोक्ष के अनुपम सुख से उसका कोई प्रयोजन नहीं था, अब प्रयोजन बदल गया है अब मोड़ दूसरी

※ संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ [सम्पादक - द्वारका प्रसाद शर्मा] पृ. ६८४

× वही पृ. ६८५

■ वही पृ. ७३२

ओर हो गया है। साहित्य या दर्शन की भाषा में कहें तो करण–विगम हो गया है। इन्द्रियों की प्रवृत्ति विषयभोगों की ओर लगी हुई थी, वहाँ से हटकर अब वह चेतना की ओर उन्मुख होती हैं, तभी वास्तविक पूर्णता आती है। उस पूर्णता का क्षण ही पर्व होता है।

जिस प्रकार शरीर में प्रत्येक अङ्ग का अपना वैशिष्ट्य और आवश्यकता होती है उसी प्रकार पर्व भी हमारी आवश्यकता और वैशिष्ट्य को बतलाता है। किसी जाति, धर्म या समाज के पर्व को ही देखकर उसकी संस्कृति, सभ्यता जीवन स्तर और वैशिष्ट्य को भली प्रकार जाना जा सकता है। जिस प्रकार किसी अङ्ग के अभाव में अङ्गीपूर्णता को प्राप्त नहीं होता है, उसी प्रकार पर्व के बिना समाज और जीवन अधूरा रहता है। पर्व एक सुअवसर है, जिसमें मनुष्य प्रसन्न होता है, क्रियाशील होता है, पवित्र होता है। शास्त्रकारों ने पर्व का अर्थ प्रोषध भी किया है और प्रोषध का अथ है उपवास। जिन दिनों उपवास किया जाता है उसे पर्व कहते हैं। उपवास केवल आहारादि का त्याग देना ही नहीं है, अपितु आत्मा के समीप निवास करना ही उपवास शब्द का वास्तविक' अर्थ है। जो लोग लंघन को ही वास्तविक उपवास मानते हैं, वे प्रायः उसमें असफल होते हैं; क्योंकि उनका उपयोग नहीं बदलता है। उपवास में इन्द्रिय और मन की प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण कर आत्मा की ओर चित्त को स्थिर किया जाता है। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार प्रोषध शब्द पर्व का पर्यायवाची है। पर्व के दिन जो उपवास किया जाता है, उसे प्रोषधोपवास कहते हैं। यथार्थ में पर्व का सम्बन्ध लौकिक जगत् से न होकर आत्मा से है आत्मा के स्वरूप को जानने, समझने और अनुभव करने में ही उपवास की सार्थकता है। इसके लिए क्रमिक अभ्यास की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार पुस्तक को पढ़ने वाला एक एक पंक्ति को पढ़कर पृष्ठ पूरा पढ़ लेता है, पुनः वह दूसरा पृष्ठ निकालकर पढ़ता है। इसी प्रक्रिया को करते हुए एक दिन वह पूरी पुस्तक पढ़ लेता है। इसी प्रकार पर्व के दिनों में किए हुए अभ्यास क्रमशः पूर्णता की ओर ले जाते हैं। सीढ़ियों को क्रम से पार करते हुए हम मंजिल पर पहुंचते हैं, उसी प्रकार पर्व में अनेक प्रकार की

साधनाओं को अपनाते हुए हम आत्मत्व की उपलब्धि रूपी मंजिल पर पहुँचने की चेष्टा करते हैं।

पर्व के प्रकार — पर्व शब्द का अर्थ उत्सव भी होता है। ये उत्सव कई प्रकार के होते हैं, जैसे :—

१. पारिवारिक उत्सव २. सामाजिक उत्सव ३. धार्मिक उत्सव ४. राष्ट्रीय उत्सव ५. अन्तर्राष्ट्रीय उत्सव। कृत्रिम और अकृत्रिम के भेद से पर्व दो प्रकार के होते हैं। जो पर्व किसी व्यक्ति या घटना विशेष के निमित्त से प्रवर्तित होते हैं, वे कृत्रिम पर्व हैं। जैसे— अक्षय तृतीया, रक्षाबन्धन, विजयादशमी, दीपावली, महावीर जयन्ती, ऋषभ-जयन्ती, ऋषभ निर्वाणोत्सव इत्यादि। अकृत्रिम पर्व अनादि हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे, जैसे :- आष्टाह्निक पर्व, रत्नत्रय पर्व दशलक्षण पर्व।

पर्व की सामान्य विशेषतायें — पर्व की अनेक विशेषतायें होती है। पर्व विशेष रूप से मनुष्य के उत्साह, आनन्द और स्फूर्ति का द्योतन कराता है। अपने आनन्द को व्यक्त करने और अनुभव करने के लिए विभिन्न प्रकार की क्रीडाओं के आयोजन, मनोरंजन सुन्दर-सुन्दर भोजन का ग्रहण करना, अच्छे-अच्छे स्थान पर भ्रमण करना मनोज्ञ वस्तुओं को देखना, अच्छी-अच्छी बातों को सुनाना, कथा वार्तालाप वगैरह करना, अनेक प्रकार की प्रतियोगिताओं का आयोजन करना इत्यादि अनेक मार्ग अपनाना है। प्रायः कर मनुष्य की ये प्रवृत्तियाँ सांसारिकता से सम्बद्ध हैं। जैनधर्म आत्मवादी धर्म हैं, उसके सारे प्रयत्न मनुष्य को सांसारिकता से हटाकर आत्मत्व की ओर ले जाने वाले हैं, अतः जैनपर्वों की अपनी कुछ निजी विशेषतायें हैं, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं।

जैनपर्वों की विशेषतायें

१. आत्म शुद्धि — आत्मशुद्धि जैन पर्वों की प्रमुख विशेषता हैं। इसके लिए क्रोध, मान माया तथा लोभ रूप कषायों कोहटाकार सम्यक् श्रद्धा ज्ञान और आचरण को पूर्ण उतारा जाता है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय,

ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के द्वारा अपनी शुद्धि की जाती है। वाणी में स्याद्वाद विचारों में अनेकान्तवाद और आचार में अनेकान्त की प्रतिष्ठापना की जाती है। आत्मसाधना करते समय उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि सद्गुणों के विकास तथा क्रोधादि विकारों के शमन हेतु व्रत, उपवास एकाशन, दर्शन, पूजन, भक्ति, स्वाध्याय उपदेश श्रवण आदि प्रधान कृत्य किये जाते हैं। इन्हीं के द्वारा आत्मा के अन्दर के राग द्वेषादिक विकारों को शान्तकर आत्मा में उत्तरोत्तर समता की ही अभिवृद्धि की जाती है। आत्मा को शोधन कर इसे पवित्र और निर्मल बनाया जाता है।

२. नैतिकता के प्रतीक –

आज चतुर्दिक् अनैतिकताओं का कड़आ विष व्याप्त है। ईमानदार बनने की बात हास्यास्पद प्रतीत होती है। जो लोग एक विशुद्ध जीवन जीना चाहते हैं, निष्काम-निर्लिप्त रहना चाहते हैं, उनके लिए कही कोई गुंजाईश नही है। मूल्यों पर भयावह संकट है, पुराने लगभग समाप्त हैं, नयों के लिए कोई राह नहीं है। हिंसा झूठ तथा भ्रष्टाचार का बोलबाला है। यन्त्रों और विकारी पूँजी ने लोभ लालच और मिथ्याकर्षणों को भरपूर पनपा दिया है। ऐसे स्थिति में आशा की कोई किरण है तो वह धर्म है। जब संसार के सारे द्वार बन्द हो जाते हैं, तब एक दरवाजा फिर भी खुला रहता है और वह है धर्म का। धर्म के विषय में धार्मिक पर्व अधिक जागरूक बनाते हैं। ये नस्तिकता को हर लेते हैं और डाँवाडोल मनुष्य में उज्ज्वल प्रकाश भर देते हैं।

३. आचरण की शिक्षा

धार्मिक पर्व संसार के प्राणियों को आचरण की शिक्षा प्रदान करते हैं। जैनों की आचरण परम्परायें अत्यन्त वैभवशाली हैं। चाहे गृहस्थ हो या साधु हो, प्रत्येक के आचरण के मापदण्ड और नियम जैनधर्म में निर्धारित हैं। चारित्रहीन ज्ञान निरर्थक है। अंकुशरहित क्रियायें मन को भटकाने वाली हैं। जो व्यक्ति भ्रष्टाचारी है, उसे आत्मिक शान्ति की उपलब्धि ही नहीं हो सकती है। जिस व्यक्ति ने अपने तन और मन को संयम की डोरी से बाँधा है, उस व्यक्ति का जीवन सफल है।

४. स्वभाव की ओर प्रस्थान –

मनुष्य इस संसार में भ्रमण करता हुआ दुःख उठा रहा है, इसका मूल कारण स्वभाव की ओर उन्मुखता न होना है। जिस प्रकार हिरण जंगल में खुशबू के लिए इधर-उधर दौड़ता फिरता है, उसे यह भान नहीं है कि सुगन्ध उसकी नाभि में ही है, उसी प्रकार सांसारिक प्राणी परपदार्थों में सुख मानता हुआ, उन्हें ही चाहता है। आत्मा के अनन्त सुख की उसे चाह नहीं है। जैन पर्व मनुष्य को परपरिणति से विमुख कर स्वभाव की ओर प्रस्थान करने की प्रेरणा देते हैं।

५. विरक्ति की राह पर चलाना –

जैन पर्व खाने, पीने, मौज उड़ाने और मनोरंजन का साधन नहीं हैं। ये सांसारिक विषयभोगों से मनुष्य के मन को हटाकर विराग की ओर ले जाते हैं। वीतरागता इनका आदर्श है। वीतरागी सन्तों से सम्बद्ध तिथियों में ही प्रायः ये पर्व आया करते हैं जिस प्रकार रागद्वेष को त्यागकर तीर्थंकरादिक मोक्ष पधारे, उसी प्रकार हमें भी सांसारिकता से विरक्त होकर विरक्ति का मार्ग अपनाकर मोक्ष प्राप्ति की सतत चेष्टा करना चाहिए, यही इन पर्वों का सन्देश है।

६. भेद विज्ञान का उपदेश –

आज तक जितने भी सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से ही हुए हैं। संसार में जो बद्ध प्राणी हैं, वे भेद विज्ञान के अभाव से ही बँधे हुए हैं। जिनके हृदय में भेद विज्ञान जाग्रत होता है, उनका चित्त चदन के समान शीतल हो जाता है। वे मानों जिनेश्वर के ही लघुनन्दन होकर मोक्ष मार्ग में क्रीड़ा करते हैं। उनका सत्यस्वरूप प्रकट होता है मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है तथा शान्त दशा हो जाती है। पर्व के दिनों में बाह्य आडम्बर को दूर कर आत्मा और परपदार्थों के यथार्थ स्वरूप का चिन्तन करने से हमारा भेदविज्ञान पुष्ट होता है।

७. समस्त जीवों को सुख देना –

ससार में अन्य वस्तुयें तो याचना करने पर, अनुभव करने पर सुखदेती भी है और नहीं भी देती है। धर्म में

ही वह विलक्षणता है कि वह अपना आश्रय करने वाले प्रत्येक प्राणी को सुख देता है। जैन पर्व धार्मिकता से ओतप्रोत हैं, अतः इनसे सभी जीवों को सुख और शान्ति की उपलब्धि हो सकती है।

८. आत्मा पर विजय –

भगवान् महावीर ने कहा था कि संग्राम में लाखों दुर्जय व्यक्तियों को जीतने की अपेक्षा अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करना परम जय है। जैन पर्व हमें आत्मजयी बनने की प्रेरणा देते हैं। आत्मजयी जीव समभाव का आचरण कर पूर्वसंचित कर्मों का क्षय कर नए कर्मों के आगमन द्वार को बन्द कर क्षोभ की प्राप्ति में सफल होते हैं। मोह और मोक्ष से रहित आत्मा का परिणाम ही समता है, यह आत्मजयी को ही प्राप्त हो सकती है।

९. आध्यात्मिकता –

हमारे देश में धार्मिक पर्वों की कमी नही है। इन दिनों मन्दिरों वगैरह में यज्ञ, हवन, पूजा, गगास्नान, तीर्थयात्रा आदि की बहुतायत रहती है, किन्तु ये सब धर्म के कलेबर हैं, धर्म की आत्मा नहीं हैं। कलेबर की सार्थकता तब है, जब वह आत्मा के धर्माचरण में सहायक हो। अन्तरङ्ग की धार्मिक भावना के बिना कलेबर की सुरक्षा भोगासक्ति ही है। जैन पर्व धार्मिक पर्व होने के साथ-साथ आध्यात्मिक भी हैं। इन दिनों पूजन, एकाशन और उपवास आदि धार्मिक कृत्यों के साथ-साथ आत्मा के गुणों की आराधना की जाती है। इस प्रकार ये पर्व आध्यात्मिकता को पुष्ट करते हैं।



महावीर जयन्ती

भगवान् महावीर का जन्म दिन महावीर जयन्ती के नाम से प्रसिद्ध है। उनका जन्म चैत्रशुक्ला त्रयोदशी को उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में हुआ था। ईस्वी कालगणना के अनुसार सोमवार दिनांक २७ मार्च ५९८ ईसा पूर्व के माङ्गलिक प्रभात में गणनायक सिद्धार्थ के घर पुत्र उत्पन्न होने की खुशी में वैशाली के नरनारी नाच उठे। देवों ने नन्द्यावर्त प्रासाद और नगरी पर रत्नों की वर्षा की। इन्द्र अपने परिकर के साथ शिशु को ले ऐरावत हाथी पर सवार हो पाण्डुक शिला पर गया और क्षीर सागर के पवित्र जल से उस बालक का अभिषेक किया। बालक के रूप, सौन्दर्य और आभा को देखकर देव आश्चर्य चकित रह गये। इन्द्र निहारता ही रह गया, एक हजार नेत्र बना लिए फिर भी तृप्ति नहीं हुई।

माता पिता के घर तरह–तरह की क्रीड़ाओं के द्वारा लोगों के मन को मोहित करता हुआ बालक दिनों दिन बढ़ने लगा। बालक के गर्भ में आने के छः मास पहिले से निरन्तर राजलक्ष्मी बढ़ रही थी। सब तरह का वैभव वैशाली के चरणों में लोट रहा था।

कुमार का वर्द्धमान के रूप में जन्म उनके पिछले अनेक जन्मों की सतत साधना का परिणाम था। कहा जाता है कि एक समय वर्द्धमान का जीव पुरुरवा भील था। संयोगवश उसने सागरसेन नाम के मुनिराज के दर्शन किए। मुनिराज रास्ता भूल जाने के कारण उधर आ निकले थे। मुनिराज के धर्मोपदेश से उसने धर्मधारण कर लिया। महावीर के जीवन की वास्तविक साधना का मार्ग यहाँ से प्रारम्भ होता है। बीच में उसे कौन-कौन से मार्गों से जाना पड़ा। जीवन में क्या-क्या बाधायें आईं और किस प्रकार भटकना पड़ा? यह एक लम्बी और दिलचस्प कहानी है, जो सन्मार्ग का अवलम्बन कर जीवन के विकास की प्रेरणा देती है। वर्द्धमान का जीवन हमें एक शान्त पथिक का जीवन लगता है जो कि संसार में भटकते-भटकते थक गया है। जिन भोगों को भोगना था, अनन्त बार भोग लिए, फिर भी तृप्ति नहीं हुई। अतः भोगों से मन हट गया, अब किसी चीज की चाह नहीं रही। परकीय संयोगों से बहुत

कुछ छुटकारा मिल गया। अब जो कुछ भी रह गया उससे भी छुटकारा पाकर वर्द्धमान मुक्ति की राह देखने लगे। इस राह की प्राप्ति के लिए बचपन से ही उन्होंने अभय की साधना की। एक बार बालकों के साथ साथ बहुत बड़े वटवृक्ष के ऊपर चढ़कर खेलते हुए वर्द्धमान के धैर्य की की परीक्षा करने के लिए संगम नामक देव ने आकर भयंकर सर्प का रूप धारण किया। सर्प को देखकर सभी बालक भाग गए, किन्तु वर्द्धमान इससे जरा भी विचलित नहीं हुए। निःशङ्क होकर नाग के ऊपर लीला-पूर्वक पैर रखकर वे वृक्ष से नीचे उतरे। सगमदेव उनके धैर्य और साहस को देखकर दंग रह गया। उसने अपना असली रूप धारण किया और दिव्य घटों के जल से कुमार का अभिषेक कर उनकी महावीर नाम से स्तुति कर चला गया।

महान् पुरुषों का दर्शन ही संशयालुचित्त लोगों की शकाओं का निवारण कर देता है। सजय और विजय नामक दो चारण ऋद्धिधारी देव थे, जिन्हें तत्त्व के विषय में कुछ शङ्का थी। कुमार वर्द्धमान को देखते ही उनकी शङ्का दूर हो गई। उन दो यतियों ने प्रसन्नचित्त हो कुमार का सन्मति यह नाम रखा।

एक दिन ३० वर्ष का त्रिशलानन्दन वह कुमार कर्मों का बन्धन काटने के लिए बिना किसी बाह्य निमित्त के ही स्वर्गसम भोगों और घर बार को छोड़कर माता-पिता की आज्ञा ले तपस्या और आत्मचिन्तन में लीन रहने का विचार करने लगा। कुमार की इस विरक्ति की स्वर्ग के लौकान्तिक देवों ने भी आकर प्रशंसा की। कुमार की विरक्ति का समाचार सुनकर माता-पिता को बहुत चिन्ता हुई। कुछ ही दिनों पहिले कलिङ्ग के राजा जितशत्रु ने अपनी सुपुत्री यशोदा के साथ कुमार वर्द्धमान के विवाह का प्रस्ताव भेजा था। उनके इस प्रस्ताव को सुनकर माता-पिता ने जो स्वप्न सँजोए थे, आज वे स्वप्न उन्हें बिखरते हुए नजर आ रहे थे। वर्द्धमान को बहुत समझाया गया। अन्त में भोगों के समक्ष माता-पिता को योग की ही स्वीकृति देनी पड़ी। मुक्ति के राही को भोगों के काँटे जरा भी विचलित नहीं कर सके। मगशिर कृष्णा दशमी सोमवार २९ दिसम्बर ५६९ ईसा पर्व को मुनिदीक्षा लेकर वर्द्धमान ने शालवृक्ष के नीचे तपस्या आरम्भ कर दी। उनकी तपःसाधना बड़ी

कठिन थी। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने कहा है – महावीर और बुद्ध से ज्यादा यदि कोई त्याग और तपस्या का घमण्ड करता है, तो मैं उसे दम्भी कहूँगा।' महावीर ने १३ वर्ष तक घोर तपश्चर्या की। श्वेताम्बर ग्रन्थों में उनकी तपःकालीन साधना इतनी कठोर और रोमाञ्चकारी वर्णित है कि तन, मन, नयन, सिहर उठते हैं। करतल भिक्षा, तरुतल वास न कोई साथी न सङ्गी, भयङ्कर ग्रीष्म वर्षा और शरद ऋतु का प्रकोप जंगली जन्तुओं और दशमशक की बाधा तथा अज्ञानी जनता का उत्पात, इस प्रकार की भयंकर बाधायें भी महावीर की आस्था को डिगा न सकीं। नवधाभक्ति से ओतप्रोत भोजन कहीं प्राप्त हो गया तो ले लिया, नहीं तो निराहार ही तपश्चर्या चल रही है।

तपःकाल का वह एक दिन, एक ग्वाला कहीं से आया और भगवान् से पूछने लगा तुमने मेरे बैल तो नहीं देखे हैं ? महावीर तपश्चर्या में लीन, तन की सुध नहीं, ग्वाले की बात का उत्तर कौन दे ? ग्वाला इधर-उधर चला गया। जंगल में भटकता फिरा, बैल कहीं हाथ नहीं आए, बेचारा परेशान होकर उसी स्थान पर आ गया, जहाँ महावीर तपस्या कर रहे थे। देखा, बैल वही योगी के समक्ष घास चरते हुए विचरण कर रहे थे। बैलों को साधु के समीप चरता हुआ देखकर ग्वाला क्रोध से मत्त हो उठा निश्चय ही इस धूर्त का ज़ादू है। मन में कपट रखकर यह कैसा बगुले के समान आचरण कर रहा है, इस प्रकार के नाना संकल्प विकल्पों से प्रेरित हो उसने महावीर पर लाठी और पत्थरों से प्रहार किया।

करुणाशील महावीर फिर भी अविचल ध्यान लगाए खड़े रहे। यह कैसा साधु है जो इतना प्रहार करने के बाद भी, मुख पर जरा भी विकृति लाए बिना अविचल भाव से खड़ा है। ओह्‌ मैंने बड़ा अनर्थ किया, जी चाहता है कि इस योगी के कदम चूम लूँ। इस प्रकार पश्चातापपूर्ण हृदय वाला ग्वाला महावीर के चरणों में लोट गया। भगवन् ! मुझ अज्ञानी निपट मूर्ख को क्षमा करो। महावीर ने आँखें खोलीं। इस भूले भटके राही पर उनकी करुणामय द्रष्टि ने मानों अमृत बिखेर दिया। ग्वाला हतप्रभ नयनों से देखने लगा। उसे कानों में एक आवाज सुनाई दी। वत्स ! तुम्हारा कल्याण हो।

वन, खेट, मटम्ब, पुटभेदन, व्रज और ग्रामानुग्रामों को पार करते

हुए महावीर एक बार लाट देश (बगाल) में पहुँचे। वहां नग्नावस्था में महावीर को देखकर लोग उन पर लाठी, पत्थरों का प्रहार करते, उन पर छू-छू कहकर कुत्ते छोड़ देते तथा जनेक प्रकार के उपसर्ग करते। महावीर इन उपसर्गों की तनिक भी परवाह किए बिना आगे बढ़ जाते। लोगों के इस घोर उपसर्ग को देख कहा जाता है कि इन्द्र ने एक बार उनके सामने प्रस्ताव रखा कि भगवन्! मैं आपको घोर सङ्कटों के बीच देख रहा हूँ। साधना का मार्ग बड़ा कटकाकीर्ण है, यदि आज्ञा हो तो मैं आपकी परिचर्या में रहूँ, आप पर कोई दैवीय और मानवीय विपत्ति नहीं आ सकती। इन्द्र के वचनों को सुनकर महावीर का पौरुष पुनः एक बार प्रदीप्त हो उठा। वे बोले— इन्द्र! साधना के लिए सहायता की अपेक्षा नहीं होती, यदि इसी प्रकार की सहायता की अपेक्षा होती तो घरबार और महल छोड़ने की क्या आवश्यकता थी? ये मिट्टी, ढेले और पिण्ड मेरी आत्मा का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते। आत्म-विकास के मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को स्वावलम्बी होना आवश्यक है। स्व की अभिव्यक्ति के लिए स्वतः साधना करनी होगी। कोई भी आत्मवीर किसी इन्द्र, महेन्द्र और चक्रवर्ती के बल पर न तो सिद्धि प्राप्त कर सका और न प्राप्त कर ककेगा। महावीर की वाणी को सुनकर आत्म बली का इन्द्र को कुछ बोध हुआ और वह इस प्रकार के बल की कामना करता हुआ लौट आया।

महावीर की साधना मौन साधना थी, उसमें दिखावट का एक अंश भी नहीं था। जब तक उन्हें पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि नही हो गई तब तक उन्होंने किसी को उपदेश नहीं दिया। जब तक तत्त्व का पूर्ण साक्षात्कार नहीं हुआ, तब तक उपदेश देना उनकी द्रष्टि में वृथा था, उसका कोई मूल्य नहीं था। वे कथनी और करनी में कोई अन्तर नही समझते थे। वैशाख शुक्लादशमी, २६ अप्रैल ५५७ ईसा पूर्व का वह दिन चिरस्मणीय रहेगा, जब जृम्भक नामक ग्राम में पहुँचकर अपराह्न समय में सालवृक्ष के नीचे एक चट्टान पर ध्यान लगाकर उन्होंने घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया। उस दिन से भगवान् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के रूप में प्रसिद्ध हो गये। कर्मों के विजेता होने के कारण वे जिन कहलाए। जिन होने के बाद उनका पहला उपदेश श्रावण कृष्णा १ (प्रतिपदा) रवि बार १८ जुलाई ५५७ ईसा पूर्व को विपुलाचल पर्वत पर हुआ। इस

प्रकार केवलज्ञान होने के ६६ दिन बाद उनकी वाणी प्रस्फुटित हुई। इसका कारण यह है कि महावीर को किसी योग्य व्यक्ति की अपेक्षा थी, जो उनके उपदेशों को धारण करने और जनता में फैलाने में सक्षम हो। इन्द्र को इस विषय में चिन्ता हुई। वह उस समय के प्रकाण्ड विद्वान् इन्द्रभूति गौतम के पास गया और उसके समक्ष अपनी शङ्का रखी। इन्द्रभूति गौतम यद्यपि इन्द्र की शङ्का का समाधान नहीं कर सका किन्तु अभिमानवश 'तुम्हारे गुरु से शास्त्रार्थ करेंगे' ऐसा बहाना बनाकर भगवान् के पास आया। आते ही उत्तुङ्ग मानस्तम्भ को देखकर उसका मान गलित हो गया। उसे जीव के स्वरूप के विषय में जो शङ्का थी, वह भगवान् ने दूर कर दी। गौतम उनके प्रमुख शिष्य (गणधर) हुए। उनकी धर्मसभा समवसरण कहलाई। इसमें मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी प्राणी उपस्थित होकर धर्मोपदेश का लाभ लेते थे। लगभग ३० वर्ष तक उन्होंने सारे देश में भ्रमण कर सदुपदेश दिया और कल्याण का मार्ग बतलाया। संसार समुद्र से पार होने के लिए उन्होंने तीर्थ (तरति संसार महार्णवं येन तत्तीर्थं) की रचना की, अतः वे तीर्थंकर कहलाए।

आचार्य समन्तभद्र ने भगवान् के तीर्थ को सर्वोदयतीर्थ कहा है। व्यष्टि के हित के साथ-साथ महावीर के उपदेश में समष्टि के हित की बात निहित थी। उनका उपदेश मानवमात्र के लिए ही सीमित नहीं था, बल्कि प्राणिमात्र के हित की भावना उसमें निहित थी। महावीर श्रमण परम्परा के उन व्यक्तियों में से एक थे, जिन्होंने यह उद्घोष किया था कि प्राणीमात्र एक समान है। स्वर्ग के अधिपति इन्द्र और क्षुद्र कीट पतंग में आत्मा के अस्तित्व की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं। उस समय जब कि मनुष्य-मनुष्य के बीच में दीवालें खड़ी हो रही थी, किसी वर्ण के व्यक्ति को ऊँचा और किसी को नीचा बतलाकर एक वर्गविशेष का स्वत्वाधिकार कायम किया जा रहा था, उस समय मानवमात्र क्या प्राणिमात्र के प्रति समत्वभाव का उद्घोष करना बहुत बड़े साहस की बात थी। तत्कालीन अन्य परम्परा के लोगों द्वारा इसका घोर विरोध हुआ। अन्त में सत्य की विजय हुई। करोड़ों-करोड़ों पशुओं और दीनदुःखियों ने चैन की सांस ली। धर्म ने अहिंसात्मक रूप लेना शुरू किया। लोगों के बीच यह ध्वनि सुनाई पड़ने लगी –

धम्मो मङ्गलमुक्किट्ठ अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमस्सन्ति जस्स धम्मे सया मणो ।।
दशवैकालिक १।१

धर्म सर्वश्रेष्ठ मङ्गल है । धर्म का अर्थ है-अहिंसा, सयम और तप । जिसका मन सदा धर्म में लगा रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं ।

सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला ।
अपियवहा पियजीविणो जीविउ कामा ।।
सव्वेसिं जीविय पियं ।। आचाराङ्ग २।३।८१

सभी प्राणियों को आयु प्रिय है। सभी सुख पसन्द करते हैं, दुःख से घबड़ाते हैं, बध नहीं चाहते हैं, जीने की इच्छा करते हैं, सबको अपना जीवन प्यारा है।

महावीर ने सृष्टिकर्ता ईश्वर का विरोध कर नारा बुलंद किया कि प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है। कर्मों के कारण आत्मा का असली स्वरूप अभिव्यक्त नहीं हो पाता है। कर्मों को नाशकर शुद्ध, बुद्ध निरञ्जन और सुखरूप स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। लोक छह द्रव्यों से बना है। ये छह द्रव्य शाश्वत हैं। इन द्रव्यों में यद्यपि उत्पाद (उत्पत्ति) और व्यय (विनाश) होता रहता है, तथापि ये अपनी मौलिकता को सुरक्षित रखते हैं। प्रत्येक आत्मा अपने में पूण स्वतन्त्र है, यह किसी ईश्वर का अंश नहीं है। अपने पुरुषार्थ के बल पर यह कर्मों के बन्धन से मुक्त हो सकती है।

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इन चार धर्मों का उपदेश दिया था, जिसे चातुर्याम धर्म कहते हैं। स्त्री को परिग्रह मानकर इन्होंने अपरिग्रह के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य धर्म को माना था। बाद में भगवान् पार्श्वनाथ के मूल मन्तव्य की ओर ध्यान न देकर लोग शिथिलाचारी हो गये। कुछ लोग कहने लगे कि पार्श्वनाथ ने ब्रह्मचर्य का उपदेश नही दिया। इस प्रकार के शिथिलाचार से बचने के लिए महावीर ने पाँच व्रतों अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का उपदेश दिया। भगवान् का अहिंसा धर्म जितना सूक्ष्म था, उतने ही अन्य धर्म भी सूक्ष्म थे। उदाहरणतः

उन्होंने पदार्थों को परिग्रह न बतलाकर मूर्च्छा (आसक्ति) को परिग्रह बतलाया। जितने अंश तक राग है, उतने अंश तक बन्धन है और जितने अंश तक राग का अभाव है, उतने अंश तक मुक्ति है। 'सव्वे कामा दुहावहा' समस्त कामभोग दुःखदायी हैं, जो काम (विषयभोग) से मुक्त है, वह शीघ्र ही संसार से मुक्त हो जाता है –

कामनियत्तमई खलु संसारा मुच्चई खिप्पं।

महावीर ने अन्तर्मुखी होने पर बल दिया। उनके अनुसार-

'जो झायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स'

जो अपनी आत्मा का ध्यान करता है, उसे परमसमाधि (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

छिंदंति भावसमणा झाणकुठारेहिं भवरुक्खं।

जो भाव से श्रमण हैं, वे ध्यान रूप कुठार से संसार रूपी वृक्ष को काट डालते हैं।

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ॥
उत्तराध्ययन ९।३४

जो वीर दुर्जय संग्राम में लाखों योद्धाओं को जीतता है, यदि वह एक अपनी आत्मा को जीत ले तो यह उसकी परमविजय है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिअ सुप्पट्ठिओ॥
उत्तराध्ययन २०।३७

आत्मा ही अपने सुख दुःख का कर्त्ता तथा भोक्ता है। अच्छे मार्ग पर चलने वाला आत्मा अपना मित्र है और बुरे मार्ग पर चलने वाला अपना शत्रु है।

आचार के क्षेत्र में जैसे अहिंसा सर्वोपरि है, उसी प्रकार विचार के क्षेत्र में अनेकान्त। वस्तु का जिस प्रकार मैं वर्णन कर रहा हूँ, वही सही नहीं है, इसका दूसरा पहलू भी सही हो सकता है। भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से वस्तु का निरूपण भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता

है। राम यदि अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है तो अपने पुत्र की अपेक्षा पिता तथा भाई की अपेक्षा भाई है। इस प्रकार अपेक्षा भेद से वस्तु का वर्णन अनेक प्रकार से किया जा सकता है। इस प्रकार ही के हठाग्रह से हटाकर भी के उदार द्रष्टिकोंण की ओर ले जाने वाली अनेकान्त द्रष्टि ने वैचारिक क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले तनावों को दूर कर समन्वय का पाठ पढ़ाया।

इस प्रकार तीस वर्ष तक तत्त्व काभली भाँति प्रचार करते हुए भगवान् महावीर अन्तिम समय मल्लों की राजधानी पावा पहुँचे। वहाँ के उपवन में ७२ वर्ष की आयु में कार्तिक कृष्णा अमावस्या मगलवार, १५ अक्टूबर ५२७ ई. पू. को उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। हस्तिपाल आदि १८ गणराज्यों के प्रमुख गणनायकों ने सम्मिलित होकर दीपकों के प्रकाश से आकाश को जगमगाकर निर्वाणोत्सव मनाया उस दिन की स्मृति में हमारे देश में आज भी दीपावली का उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है।



तीन बातें याद रखें

१. तीन चीजें कभी छोटी न समझें :
शत्रु, कर्जा, बीमारी

२. तीन चीजें किसी की प्रतीक्षा नहीं करती :
समय, मृत्यु, ग्राहक

३. तीन चीजें भाई-भाई को दुश्मन बना देती हैं :
जर, जोरू, जमीन

४. तीन चीजें याद रखना जरूरी है :
सच्चाई, कर्तव्य, मौत

५. तीन चीजे असल उद्देश्य से रोकती हैं :
बदचलनी, गुस्सा, लालच

६. तीन चीजें कोई दूसरा नही चुरा सकता :
अकल, चरित्र, हुनर

अनन्त व्रत पर्व

भाद्रपद मास में अनन्त व्रत पर्व मनाने की जैनियों में विशेष प्रथा है। यह पर्व जैनों के समान हिन्दुओं में भी लोकप्रिय है। इस पर्व की जैन विधि इस प्रकार है –

विधि :– अनन्त व्रत भादों सुदी एकादशी से आरम्भ किया जाता है। प्रथम एकादशी को उपवास कर द्वादशी को एकाशन करे अर्थात् मौन सहित स्वादरहित प्रासुक भोजन ग्रहण करे, सात प्रकार के गृहस्थों के अन्तराय का पालन करे। त्रयोदशी को जिनाभिषेक, पूजन पाठ के पश्चात् छाछ या छाछ में जो, बाजरा के आटे से बनाई गई महेरी का आहार ले। चतुर्दशी के दिन प्रोषध करे तथा सोना, चाँदी या रेशम सूत का अनन्त बनाये, जिसमें चौदह गाँठ लगाए।

प्रथम गाँठ पर ऋषभनाथ से लेकर अनन्तनाथ तक चौदह तीर्थंकरों के नामों का उच्चारण, दूसरी गाँठ पर तपसिद्धि, विनयसिद्धि संयमसिद्धि, चारित्रसिद्धि, श्रुताभ्यास, निश्चयात्मक भाव, ज्ञान, बल दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व इन चौदह गुणों का चिन्तन, तीसरी पर उन चौदह मुनियों का नामोच्चारण जो मति, श्रुत अवधिज्ञान के धारी हुए हैं, चौथी पर अर्हन्त भगवान् के चौदह देवकृत अतिशयों का चिन्तन, पाँचवीं पर जिनवाणी के चौदह पूर्वों का चिन्तन, छठवीं पर चौदह गुणस्थानों का चिन्तन, सातवीं पर चौदह मार्गणाओं का स्वरूप, आठवीं पर चौदह जीव समासों का स्वरूप, नौवीं पर गंगादि चौदह नदियों का उच्चारण, दसवीं पर चौदह राजू प्रमाण ऊँचे लोक का का स्वरूप, ग्यारहवीं पर चक्रवर्ती के चौदह रत्नों ※ का, बारहवीं पर चौदह स्वरों का, तेरहवीं पर चौदह तिथियों का एवं चौदहवीं गाँठ पर आभ्यन्तर चौदह प्रकार के परिग्रह से रहित मुनियों का चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार अनन्त का निर्माण करना चाहिए।

※ गृहपति, सेनापति, शिल्पी, पुरोहित, स्त्री, हाथी, घोड़ा, चक्र, असि (तलवार), छत्र, दण्ड, मणि, चर्म और कांकिणी ये चक्रवर्ती के चौदह रत्न हैं।

पूजा करने की विधि यह है कि शुद्ध कोरा घड़ा लेकर उसका प्रक्षाल करना चाहिए। पश्चात् उस घड़े पर चन्दन, केशर आदि सुगन्धित वस्तुओं का लेप कर तथा उसके भीतर सोना, चाँदी या ताँबे के सिक्के रखकर सफेद वस्त्र से ढक देना चाहिए। घड़े पर पुष्पमालायें डालकर उसके ऊपर थाली प्रक्षाल करके रख देनी चाहिए थाली में अनन्त व्रत का माड़ना और यन्त्र लिखना, पश्चात् आदि-नाथ से लेकर अनन्तनाथ तक चौदह भगवानों की स्थापना यन्त्र पर की जाती है। अष्टद्रव्य से पूजा करने के उपरान्त 'ॐ ह्रीं अर्हन्नमः अनन्त केवलिने नमः' इस मन्त्र को १०८ बार पढ़कर पुष्प चढ़ाना चाहिए अथवा पुष्पों से जाप करना चाहिए। पश्चात् 'ॐ ह्रीं क्ष्वी हं स अमृतवाहिने नमः' अनेन मन्त्रेण सुरभिमुद्रां धृत्वा उत्तमगन्धोदक प्रोक्षणं कुर्यात् अर्थात् ॐ ह्री क्ष्वीं हं स अमृतवाहिने नमः' इस मन्त्र को तीन बार पढ़कर सुरभि मुद्रा द्वारा सुगन्धित जल से अनन्त का सिंचन करना चाहिए। अनन्तर चौदहों भगवान् की पूजा करनी चाहिए।

'ॐ ह्रीं अनन्ततीर्थंकराय ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौ ह्रः अ सि आ उसाय नमः सर्वशान्ति तुष्टि सौभाग्यमायुरारोग्यैश्वर्यमष्ट सिद्धि कुरु कुरु सर्वविघ्नविनाशन कुरु-कुरु स्वाहा' इस मन्त्र से प्रत्येक भगवान् की पूजा के अनन्तर अर्घ्य चढ़ाना चाहिए ॐ ह्री हं स अनन्त केवली भगवान् धर्मश्रीबलायुरारोग्यैश्वर्याभिवृद्धि कुरु कुरु स्वाहा' इस मन्त्र को पढ़कर अनन्त पर चढ़ाए हुए पुष्पों की आशिका एवं 'ॐ ह्री अर्हन्नमः सर्वकर्मबन्धनविमुक्ताय नमः स्वाहा' इस मन्त्र को पढ़कर शान्ति जल की आशिका लेनी चाहिए। इस व्रत में ॐ ह्रीं अर्ह हं स अनन्तकेवलिने नमः' मन्त्र का जाप करना चाहिए। पूर्णिमा को पूजन के पश्चात् अनन्त को गले या भुजा में धारण करे[1]

अनन्त व्रत की कथा — जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में कौशल नामक देश है। वहाँ अयोध्या नगरी के पास 'पलखण्ड नाम का ग्राम था। उस ग्राम में सोमशर्मा नामक ब्राह्मण था। उस ब्राह्मण की सोमिल्या

१. व्रततिथिनिर्णय (डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री कृत हिन्दी विवेचन) पृ० १९७-१९८

नामक स्त्री थी। ब्राह्मण बड़ा दरिद्र था। दरिद्रता के कारण वह देश देशान्तर में भिक्षा मांगता हुआ भ्रमण करता था। घूमते-घूमते वह एक बार उस स्थान पर आया जहाँ भगवान् अनन्तनाथ का समवसरण था। वहाँ पर देव तथा मनुष्य सभी हर्षित हो रहे थे ब्राह्मण भी उसे देखकर हर्षित हुआ और समवसरण में वन्दना के लिए गया। उसने भगवान् की वन्दना कर गणधर से पूछा कि मैंने कौन सा पाप किया है, जिससे मैं निर्धन हूँ और मेरा शरीर रोग ग्रस्त रहता है। गणधर ने कहा कि तुम सुखदायक अनन्त व्रत का पालन करो। ब्राह्मण ने उस व्रत की विधि पूछी। गणधर ने व्रत की विधि बतलाई और कहा कि इस व्रत का चौदह वर्ष पालन करना चाहिए ताकि उससे पापकर्म दग्ध हो जाँय। चौदह वर्ष बाद उद्यापन करना चाहिए। उद्यापन की विधि इस प्रकार है-

शुद्ध कोरा घड़ा लेकर उसे धो लेना चाहिए। पश्चात् श्रीखण्ड, केशर आदि सुगन्धित वस्तुओं का लेपन उस घड़े पर करना चाहिए। सुवर्ण चाँदी या पञ्चरत्न की पुड़िया उस घड़े में छोड़नी चाहिए। घड़े को श्वेत वस्त्र से आच्छादित कर उसे पुष्पमालायें पहना देनी चाहिए। अनन्तर घड़े के ऊपर एक बड़ी थाली प्रक्षाल करके रखना उस थाली में श्रीखण्ड से अनन्त यन्त्र लिखकर अथवा स्वस्तिक लिख कर चौबीसी प्रतिमा विराजमान करना चाहिए। गांठ दिया हुआ अनन्त पहली थाली में ही रखा जाता है। अथवा चौकी पर ही चौदह मण्डल का वृत्ताकार मांडला बना लेना, प्रत्येक मण्डल में चौदह चौदह कोष्ठक बनाना। मण्डल के मध्य में चौबीसी प्रतिमा विराज मान कर पूजन करना चाहिए। प्रत्येक कलश की पूजा में नारि-यल चढ़ाना चाहिए तथा प्रत्येक कोष्ठक पर सुपाड़ी। जलयात्रा, अभिषेक, सकलीकरण, अंगन्यास के पश्चात् उद्यापन की पूजा करनी चाहिए। पूजनोपरान्त संकल्प, पुण्याहवाचन, शान्ति और विसर्जन करना चाहिए। उद्यापन के पश्चात् १४ श्रावकों को भोजन कराना चाहिए। यदि उद्यापन की शक्ति न हो तो दूने दिन व्रत करना चाहिए।

ब्राह्मण ने विधिपूर्वक व्रत किए। व्रत के प्रभाव से उसके दुःख

नष्ट हो गये । अन्तकाल उसने सन्यासधारण कर स्वर्ग पाया । चौथे स्वर्ग की महाऋद्धि उसे प्राप्त हुई । उसकी स्त्री भी समाधिमरण कर वहीं देवी हुई। अनन्तर देव अपनी आयु पूर्णकर अनन्तवीर्य नामक राजा हुआ तथा देवी उसकी पट्टरानी हुई। जिन्दीक्षा लेकर अनन्तवीर्य उसी भव से मुक्ति को प्राप्त हुए और उनकी रानी स्त्रीलिंग छेदकर अच्युत स्वर्ग में देव हुई । स्वर्ग की आयु पूर्ण कर वह मध्य लोक में मनुष्य शरीर धारण कर मृत्यु को प्राप्त होगी । इसी प्रकार अन्य जीव भी इस व्रत का पालन कर मोक्षलाभ कर सकते हैं ।



तीन बातें याद रखें

१– तीन चीजें निकलकर वापस नहीं आतीं :
तीर कमान से, बात जबान से, प्राण शरीर से

२– तीन व्यक्ति समय पर पहचाने जाते हैं :
स्त्री, भाई, दोस्त

३– तीन चीजें जीवन में एक बार मिलती हैं :
माँ, बाप और जवानी

४– तीन चीजें पर्दे योग्य हैं :
धन, स्त्री, और भोजन

५– तीन चीजों से जरूर बचना चाहिए :
पर स्त्री, कुसंगत और निन्दा

६– तीन चीजों में मन लगाने से उन्नति होती है :
ईश्वर, मेहनत और सेवा

७– तीन चीजें कभी नहीं भूलनी चाहिये :
कर्ज, फर्ज और मर्ज

रक्षा बन्धन पर्व

प्रतिवर्ष श्रावण शुक्ला पूर्णिमा को रक्षाबन्धन पर्व आता है। यह अत्यन्त प्राचीन पर्व है। इसकी उत्पत्ति अठारहवें तीर्थंकर अरह-नाथ के तीर्थ में हुई थी। इस पर्व का प्रादुर्भाव महामुनि विष्णु कुमार के निमित्त से हुआ था, अतः यह कृत्रिम पर्व है। जो पुराकृत शुभाशुभ कर्म हैं। उनका शुभाशुभफल अवश्य ही प्राप्त होता है अतः वीतराग भाव की प्राप्ति करना प्रत्येक के जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। यह इस पर्व का सन्देश है। इसकी कथा ✳ इस प्रकार है –

अवन्तीदेश में उज्जयिनी नगरी में राजा श्रीवर्मा, था। उसकी रानी श्रीमती थी और बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद, तथा नमुचि ये चार मन्त्री थे। एक बार उज्जयिनी में समस्त श्रुत के धारी, दिव्य-ज्ञानी सात सौ मुनियों के साथ अकम्पनाचार्य आकर उद्यान के वन में ठहर गए। आचार्य ने समस्त संघ से कहा कि यदि राजा-दिक भी आयें तो भी कोई मुनि बोले नहीं, अन्यथा समस्त संघ का नाश हो जायगा। धवलगृह परस्थित राजा ने हाथ में पूजा की सामग्री लेकर नगर के लोगों को जाते हुए देखकर मन्त्रियों से पूछा– यह लोग असमय में ही कहाँ जा रहे हैं? मन्त्रियों ने कहा– बहुत से जैन मुनि नगर के बाहरी उद्यान में आए हुए हैं, वहाँ पर यह लोग जा रहे हैं। हम भी उनके दर्शन के लिए चलें, ऐसा कहकर राजा भी चारों मन्त्रियों के साथ गया। प्रत्येक मुनि की सभी ने वन्दना की, किन्तु किसी ने भी आशीर्वाद नही दिया। राजा ने सोचा दिव्य अनुष्ठान के कारण अत्यन्त निःस्पृह ये मुनि बैठे हैं, अतः वह वापिस लौटने लगा। रास्ते में दुष्ट अभिप्राय धारक मन्त्रियों ने उपहास किया कि ये मूर्ख बैल हैं— कुछ भी नहीं जानते हैं, अतः दम्भ से मौनपूर्वक बैठे हैं। इस प्रकार बोलते हुए जब वे आगे जा रहे थे, तभी आगे चर्याकर श्रुतसागर मुनि को आते

✳ प्रभाचन्द्र : कथाकोश पृ. २६–३१

हुए देखकर उन मन्त्रियों में से किसी ने कहा- यह तरुण बैल, पेट भर कर आ रहा है।

यह सुनकर श्रुतसागर मुनि ने राजा के ही सामने उन मन्त्रियों को शास्त्रार्थ में ही जीत लिया तथा आकर अकम्पनाचार्य से समाचार कहा। आचार्य श्री ने कहा– तुमने सारे संघ को मार दिया। यदि शास्त्रार्थ के स्थान में जाकर रात में तुम अकेले ठहरते हो तो संघ जीवित रहेगा तथा तुम्हारी शुद्धि होगी। अनन्तर श्रुतसागर मुनि वहाँ जाकर कायोत्सर्ग पूर्वक खड़े हो गये। अत्यन्त लज्जित क्रुद्ध मन्त्रियों ने रात्रि में संघ को मारने के लिए जाते समय उन एक मुनि को देखकर– 'जिसने हमारा निरादर किया, उसे ही मारना चाहिए,' ऐसा विचारकर उनके वध के लिए एक साथ चार तलवारें खींची। इसी समय नगरदेवी का आसन कम्पायमान हुआ। उसने उन मन्त्रियों को उसी अवस्था में कील दिया। प्रातः काल समस्त लोगों ने उन्हें उसी प्रकार देखा। राजा बहुत रुष्ट हुआ, किन्तु ये मन्त्री कुल परम्परा से आगत हैं, ऐसा जानकर उन्हें उसने नहीं मारा। उन्हें गधे पर चढ़ाना आदि कराकर देश से निकाल दिया।

कुरुजाङ्गल देश में हस्तिनागपुर में राजा पद्मरथ था। उसकी रानी का नाम लक्ष्मीमति था। उसके पद्म और विष्णु दो पुत्र थे। एक बार पद्म को राज्य देकर महापद्म विष्णु के साथ श्रुतसागरचन्द्राचार्य के समीप मुनि हो गए। वे बलि आदि मन्त्री आकर राजा पद्म के मन्त्री हो गये। कुम्भपुर नगर में राजा सिंहबल था, वह दुर्ग के बल से पद्म के मण्डल के ऊपर उपद्रव करता था। उसे पकड़ने की चिन्ता के कारण पद्म को दुर्बल देखकर बलि ने कहा– महाराज! दुर्बलता का क्या कारण है? राजा ने उससे अपनी दुर्बलता का कारण कहा। वह सुनकर आदेश माँगकर कुम्भपुर जाकर बुद्धि के माहात्म्य से दुर्ग तोड़कर सिंहबल को पकड़कर लौटकर उसे पद्म को समर्पित कर दिया। महाराज! वह सिंहबल यह है? सन्तुष्ट होकर उसने कहा– इच्छित वर माँगो। बलि ने कहा– जब माँगूगा, तब दीजिएगा।

अनन्तर कुछ दिनों में विहार करते हुए वे अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनि हस्तिनागपुर आए। नगर में चहल-पहल होने पर बलि

आदि ने भयपूर्वक विचार किया कि राजा इनका भक्त है । अतः संघ को मारने के लिए पहले से ही पद्म से प्रार्थना की– हमें सात दिन के लिए राज्य दीजिए । अनन्तर पद्मराज सात दिन का उन्हें राज्य देकर अपने अन्तःपुर में रहने लगे । बलि ने आतापन गिरि पर कायोत्सर्ग से स्थित मुनियों को बाड़ से घेरकर मण्डप बनाकर यज्ञ करना आरम्भ किया । छोड़े हुए सकोरे तथा बकरे आदि, जीवों के कलेबर और धुयें से मुनियों को मारने के लिए उपद्रव किया । मुनि आभ्यन्तर और बाह्य सन्यास पूर्वक स्थित हो गए ।

अनन्तर मिथिलानगरी में आधी रात्रि के समय बाहर निकलते हुए श्रुतसागरचन्द्र आचार्य ने आकाश में श्रवणनक्षत्र को काँपता हुआ देखकर अवधिज्ञान से जानकर कहा– महामुनियों के ऊपर महान् उपसर्ग हो रहा है । उसे सुनकर पुष्पदन्त नामक विद्याधर क्षुल्लक ने पूछा– भगवान् ! कहाँ पर ? किन मुनियों के ऊपर उपसर्ग हो रहा है ? आचार्य ने कहा– हस्तिनागपुर में अकम्पनाचार्य आदि मुनियों के ऊपर उपसर्ग हो रहा है। क्षुल्लक ने पूछा– वह उपसर्ग कैसे नष्ट होगा ? आचार्य ने उत्तर दिया । धरणिभूषण पर्वत पर विष्णुकुमार मुनि ठहरे हैं। उन्हें विक्रिया ऋद्धि प्राप्त है, वह उपसर्ग नाश करेंगे। यह सुनकर उनके समीप जाकर क्षुल्लक ने सब वृत्तान्त सुनाया । विष्णुकुमार ने क्या मुझे विक्रियाऋद्धि है ? यह विचारकर विक्रिया ऋद्धि की परीक्षा के लिए हाथ फैलाया । वह हाथ पवत को भेदकर दूर चला गया । अनन्तर विक्रिया ऋद्धि का निर्माण कर हस्तिनागपुर जाकर उन्होंने पद्मराज से कहा– क्या मुनियों के ऊपर उपसर्ग तुमने कराया है ? आपके कुल में किसी ने भी ऐसा नहीं किया । पद्मराज ने कहा– क्या करूँ ? पहले इन्हें मैंने वर दे दिया है ?

अनन्तर विष्णुकुमार मुनि ने वामन ब्राह्मण का रूप धारण कर दिव्यध्वनि से प्रार्थना की । बलि ने कहा– आपको क्या दूँ । उन्होंने कहा– तीन डग भूमि दीजिए। हठी ब्राह्मण ! अन्य बहुत माँगो, इस प्रकार बारम्बार लोगों के द्वारा कहे जाने पर भी वे वही माँगने लगे। हाथ में जल लेने आदि की विधि से तीन पैर भूमि दिए जाने पर

उन्होंने एक पैर मेरु पर रखा, दूसरा पैर मानुषत्तर पर्वत पर, तीसरे पैर से देवविमान आदि में क्षोभ उत्पन्न कर बलि की पीठ पर उस पैर को रखकर बलि को बांधकर मुनियों के उपसर्ग का निवारण किया। अनन्तर वे चारों मन्त्री और पद्म भयवश आकर विष्णुकुमार और अकम्पनाचार्यादि मुनियों के पैरों में पड़ गए। वे मन्त्री श्रावक हो गए। व्यन्तरदेवों ने सुघोष नामक तीन बीणायें विष्णुकुमार के चरणों की पूजा के लिए दीं।

उपर्युक्त कथा आचार्य प्रभाचन्द्र ने वात्सल्य नामक सम्यक्त्व के अङ्ग के उदाहरणस्वरूप दी है। वात्सल्य का लक्षण आचार्य समन्तभद्रने इस प्रकार कहा है—

स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥१७॥

स्वयूथ्य—अपने सहधर्मी सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप धर्म के धारक मनुष्यों के साथ अच्छे भावों से और कपट रहित योग्यता के अनुसार आदर सत्कार करना वात्सल्य कहा जाता है।

विष्णुकुमार मुनि ने वात्सल्य भाव से प्रेरित होकर मुनियों के ऊपर किए जा रहे घोर उपसर्ग को दूर किया और प्रायश्चित्त पूर्वक पुनः दीक्षा धारण कर आत्मसाधना में लीन हो गए। उक्त उपसर्ग श्रावण शुक्ल १५ को दूर हुआ था। इसी की स्मृति में यह रक्षाबन्धन पर्व मनाया जाता है।

अकम्पनादि आचार्य भीषण उपसर्ग आने पर मेरु के समान अडिग रहे। इस प्रकार उन्होंने अकम्पनत्व को सार्थक किया और सम्यक्त्व के निःशकित अङ्ग को पुष्ट किया। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में निःशंकित अङ्ग का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—

इदमेवेद्रशं चैवतत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽ संशयारुचिः ॥११॥

तत्त्व यही है, ऐसा ही है, दूसरे प्रकार का नहीं है, इस प्रकार मोक्षमार्ग में तलवार के पानी के समान जिसमें शंकारहित अचल श्रद्धा

होती है, वह निःशंकित सम्यग्दर्शन है । तात्पर्य यह कि जैसे तलवार का पानी पवन के द्वारा चचल नहीं होता है उसी प्रकार सच्चे देव, गुरु और शास्त्र के स्वरूप के प्रति मिथ्यादृष्टियों के बचनरूप पवन के द्वारा जो संशय का प्राप्त नहीं होता है, वह निःशंकित अङ्ग का धारक होता है। ऐसे व्यक्ति को इहलोक, परलोक, मरण, वेदना, अनरक्षा, अगुप्ति तथा अकस्मात् भेद की अपेक्षा सात प्रकार का भय नहीं होता है। अकम्पनाचार्य आदि ने उपर्युक्त सात प्रकार के भयों पर विजय प्राप्त की। अहिंसा को ही उन्होंने धर्म निश्चित किया ।

श्रुतसागर मुनि जिन्होंने गुरु की आज्ञा के अनुसार उस स्थान पर जहाँ मन्त्रियों से शास्त्रार्थ हुआ था, खड़े होकर अपने प्राणों के प्रति कुछ भी ममत्व नहीं दिखलाया । गुरु के प्रति विनय का यह अनुपम उदाहरण है । प्रशमरति प्रकरण में कहा गया है–

विनयफलं सुश्रूषा गुरुसुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम् ।
ज्ञानस्य फलं विरतिर्विरतिफलं चास्रवनिरोधः ॥
संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जराफलं द्रष्टम् ।
तस्मात् क्रियानिवृत्तिः क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ।
योगनिरोधाद्भवसन्ततिक्षयः सन्ततिक्षयान्मोक्षः ।
तस्मात् कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः ॥

प्रशमरतिप्रकरण - ७२-७४

विनय का फल सेवा है । गुरु सेवा का फल श्रुत-ज्ञान की प्राप्ति है । ज्ञान का फल विरति है और विरति का फल आस्रव का रुकना-संवर है। सवर का फल तपोबल है। तप का फल निर्जरा है । निर्जरा से क्रिया की निवृत्ति होती है और क्रिया की निवृत्ति से अयोगिपना प्राप्त होता है। योग के निरोध से भवसन्तति (संसार की परम्परा) का क्षय होता है और संसार परम्परा के क्षय से मोक्ष होता है। अतः समस्त कल्याणों का पात्र विनय है ।

श्रुतसागर मुनि विनय का आचरण कर समस्त कल्याण परम्परा के पात्र हो गए । श्रुतशास्त्र को कहते हैं । यदि मनुष्य विनीत है।

तो उसका श्रुत-श्रुत है अन्यथा उसे दुःश्रुत ही समझना चाहिए। जो श्रुत की परीक्षा करने के लिए कसौटी के समान है तथा विनय से विभूषित है, वह सबसे सुन्दर है।

बलि के अत्याचार से सब जगह हा-हाकार मच गया और लोगों ने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि जब मुनियों का संकट दूर होगा तो उन्हें आहार कराकर ही भोजन ग्रहण करेंगे। संकट दूर होने पर सब लोगों ने दूध की सीमियों का हल्का भोजन तैयार किया क्योंकि मुनि कई दिन के उपवासे थे। मुनि केवल सात सौ थे अत: वे केवल सात सौ घरों पर ही पहुँच सकते थे, इसलिए शेष घरों में उनकी प्रतिकृति बनाकर और उसे आहार देकर प्रतिज्ञा पूरी की गई। सबने परस्पर में रक्षा करने का बन्धन बाँधा, जिसकी स्मृति त्यौहार के रूप में अब तक चली आती है। दीवारों पर जो चित्र रचना इस दिन की जाती है, उसे सौन कहा जाता है है। यह सौन शब्द श्रमण शब्द का अपभ्रंश जान पड़ता है। श्रमण शब्द प्राचीन काल में जैन साधु का सूचक था। १

उत्तर भारत में इस दिन राखी बाँधने की प्रथा है। विष्णुकुमार मुनि ने साधर्मी मुनियों की इस दिन रक्षा की थी, इसी प्रकार साधर्मी, गुणी बन्धु बान्धवों की रक्षा करना सबका परम कर्त्तव्य है। जैन धर्म में तो प्राणिमात्र की रक्षा करने का उपदेश दिया गया है। इस दिन बहिन भाई को राखी बांधती है। यह पर्व भाई बहिन के त्यौहार के रूप में कब से जैनियों में मनाया जाने लगा, इस पर अन्वेषण होना चाहिए क्योंकि शास्त्रों में तो विष्णुकुमार मुनि की कथा के प्रसंग में ही इसे मानने का उल्लेख पाया आता है। सम्भवत: अन्य लोगों के सम्पर्क के कारण जैनियों में भी यह बहिन-भाई के त्यौहार के रूप में मनाया जाने लगा। इस दिन ब्राह्मण लोग घर-घर में राखी बाँधते हैं। राखी बाँधते समय वे एक श्लोक पढ़ते हैं-

'येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबली।
तेन त्वामपि बध्नामि रक्षा मां मा चल॥'

---

१ पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैनधर्म पृ. ३३९-३४०

अर्थात् जिस राखी से दानवों का इन्द्र महाबलि बलिराजा बाँधा गया उससे मैं तुम्हें भी बाँधता हूँ । मेरी रक्षा करो । रक्षा से विचलित मत होना।

दक्षिण भारत में आज दिन उपाकर्म विधि को मानते हुए यज्ञोपवीत बदलते हैं । यज्ञोपवीत रत्नत्रय का सूचक हैं । हम अन्तरङ्ग में रत्नत्रय को धारण करने के साथ-साथ बाह्य रत्नत्रय भी धारण करते है, इनकी सूचना यज्ञोपवीत देता हैं । आठ वर्ष में या विधि पूर्वक जिनका उपनयन व्रत संस्कार नहीं हुआ हो, उन्हें आज के दिन यज्ञोपवीत धारण कराया जाता है; क्योंकि १६ वर्ष की आयु के बाद यज्ञोपवीत सस्कार नहीं होता है । जिनका विधिपूर्वक वह संस्कार हो गया है, उमे इस दिन यज्ञोपवीत बदलने का विधान किया जाता है १ । इसके विषय में एक श्लोक है—

श्रावणे मासि नक्षत्रे श्रवणे पूर्ववत्क्रियाम् ।
पूर्वं होमादिकं कुर्यान्मौञ्जी' कट्याः परित्यजेत् ॥

'श्रावण मास में पूर्णिमा के दिन श्रवण नक्षत्र के होने पर हवन, पूजन आदि के पश्चात् यज्ञोपवीत बदलना चाहिए'

हवन करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हवन के समय भद्रा न हो । भद्राकाल में हवन करना वर्जित है । साधारणतया भद्रा के अभाव में हवन मध्याह्नोत्तर काल में किया जाता है । यज्ञोपवीत बदलने का मन्त्र यह है—

ॐ नमः परमशान्ताय शान्तिकराय पवित्रीकृतायाहं रत्नत्रय स्वरूपं यज्ञोपवीतं दधामि मम गात्रं पवित्रं भवतु अर्हं नमः स्वाहा ।

रक्षाबन्धन पर्व करने वालों को पूर्णिमा का उपवास करना चाहिए । इस दिन विष्णुकुमार मुनि की पूजा तथा अन्य गुरुओं की पूजा के पश्चात् मध्याह्न में हरिवंशपुराण का स्वाध्याय करना चाहिए । तीनों कालों में 'ॐ ह्रीं अर्हं श्रीचन्द्रप्रभजिनाय कर्मभस्मविधूननं सर्वशान्तिवात्सल्योपवर्द्धनं कुरु कुरु स्वाहा' मन्त्र का जाप करना

१ जैनगजट (संम्पादकीय) ५ अगस्त १९७६

चाहिए। रात्रि जागरण करते हुए भक्तामरस्तोत्र का एवं कल्याण-मन्दिर स्तोत्र का पाठ करना चाहिए। प्रातः प्रतिपदा के दिन नित्य कर्म से निवृत्त होकर भगवान् चन्द्रप्रभ स्वामी की पूजा के उपरान्त णमोकार मन्त्र की तीन मालायें जपनी चाहिए। अनन्तर एक अनाज का भोजन-दूध भात या भात दही अथवा रोटी दूध का आहार करना चाहिए। नमक, मीठा फल, और शाक सब्जी का त्याग इस दिन करना होता है। केवल एक अन्न से पारणा (व्रतान्त भोजन) की जाती है। यह व्रत आठ वर्षों तक किया जाता है। पश्चात् उद्यापन कर दिया जाता है। इस दिन श्रेयांसनाथ भगवान् का निर्वाण भी हुआ है १।

रक्षाबन्धन पर्व पर प्रत्येक श्रावक को धार्मिक, सामाजिक एवं लोकोपकारी कार्यों की सम्पन्नता हेतु यथेष्ट दान अवश्य देना चाहिए यह एक अद्भुत पर्व है। यह दिन बन्धन का दिन होने पर भी पर्व माना जाता है। पर्व या उत्सव में तो स्वतन्त्रता होती है। आज का दिन तो बन्धन का दिन है, बन्धन भी सामान्य बन्धन नहीं, प्रेम का बन्धन। यह वात्सल्य का प्रतीक है। रक्षा बन्धन अर्थात् रक्षा के लिए बन्धन आजीवन बड़े उत्साह के साथ चलता है। सामान्य बन्धन से तो मुक्ति सम्भव है, परन्तु यह वह बन्धन है, जिससे मुक्ति नही। यह बन्धन मुक्ति में सहायक है, क्योंकि यह रक्षा का बन्धन है। जीवों पर संकट आते है, सभी अपनी शक्ति अनुसार उनका निवारण करते हैं, परन्तु सभी ऐसा नहीं कर पाते मनुष्य ही ऐसा विवेकशील प्राणी है जो अपने और दूसरों के संकटों को दूर करने में समर्थ है। मनुष्य ही अपनी बुद्धि और शारीरिक सामर्थ्य से अपनी और दूसरों की रक्षा कर सकता है। रक्षा के लिए ही धर्म का विश्लेषण है कि जीवों की रक्षा किस प्रकार करें। उनके विकास के लिए क्या प्रयत्न करें ? रक्षा बन्धन पर्व की महत्ता इसीलिए तो है कि एक महान् आत्मा ने रक्षा का महान् कार्य सम्पन्न कर ससार के सामने रक्षा का वास्तविक स्वरूप रखा- जीवों

---

१ व्रततिथिनिर्णय (प्रस्तावना) पृ. १६

की रक्षा, अहिंसा की रक्षा, धर्म की रक्षा। किन्तु आज यह रक्षा उपेक्षित है, हम चाहते हैं 'सुरक्षा' मगर किसकी ? मात्र अपनी और अपनी भौतिक सम्पदा की। आज यह स्वार्थपूर्ण सङ्कीर्णता ही सब अनर्थों की जड़ बन गई है- मैं दूसरों के लिए क्यों चिन्ता करूँ, मुझे बस मेरे जीवन की चिन्ता है। 'मैं', 'मेरा', 'अपना', आज का सारा व्यवहार यहीं तक केन्द्रित हो गया है। रक्षकपना समाप्त हो गया है। और भक्षकपना उसकी छाती पर चढ़ बैठा है। स्वयं की परवाह न करते हुए अन्य की रक्षा करना– यह इस पर्व के मानने का वास्तविक रहस्य है। विष्णुकुमार मुनि ने बन्धन को अपनाया अपने पद को छोड़कर मुनियों की रक्षार्थ गए। ऐसा करने में उनका प्रयोजन धर्म प्रभावना और वात्सल्य था। रक्षा के लिए जो बन्धन है, वह सभी के लिए मुक्ति का कारण है। बाहर से मधुर और भीतर से कटु, ऐसा रक्षा बन्धन नहीं होना चाहिए। हमारे द्वारा सम्पादित कार्य बाहर और भीतर से एक समान होना चाहिए। रक्षा बन्धन को सच्चे अर्थों में मनाना है तो बाहर और भीतर से एक समान होना चाहिए। रक्षा बन्धन को सच्चे अर्थों में मनाना है तो अपने भीतर करुणा को जाग्रत करें, अनुकम्पा, दया और वात्सल्य का अवलम्बन लें। रक्षा बन्धन का अर्थ है कि हममें जो करुणाभाव है, वह तन मन धन से अभिव्यक्त हो, एक दिन नहीं, सदैव हमारा स्वभाव बन जाय, ऐसी चेष्टा करना चाहिए। सत्वेषु मैत्री- प्राणी मात्र के प्रति मित्रता का भाव हमारे जीवन में उतरना चाहिए। तभी हमारा यह पर्व मनाना सार्थक है १।



---

१. दि. जैन समाज, ब्यावर स्मारिका पृ. ५७-५८
(आचार्य श्री विद्यासागर जी का दिनाङ्क १४-८-७३ का प्रवचन)

दीपावली

अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाणलाभ के दिन दीपावली, दीपमालिका, दीवाली अथवा वीर निर्वाणोत्सव पर्व मनाया जाता है। भगवान् महावीर का निर्वाण कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वातिनक्षत्र के रहते हुए हुआ है। यह बात तिलोयपण्णत्ती, जयधवला टीका, उत्तरपुराण, वर्द्धमानचरित तथा निर्वाण-भक्ति इत्यादि के उल्लेखों से सिद्ध होती है–

कत्तियकिण्हे चोद्दसिपच्चूसे सादिणामणक्खत्ते।
पावाए णयरीए एक्को वीरेसरो सिद्धो ॥
तिलोयपण्णत्ती अ. ४ गा. १२०८

पच्छापावाणयरे कत्तियमासस्स किण्ह चोद्दसिए।
रत्तीए सेसरयं छेत्तुं महावीरणिव्वाओ ॥
जयधवला टीका

कृष्णकार्त्तिकपक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये।
स्वातियोगे तृतीये शुक्लध्यानपरायण: ॥
उत्तरपुराण पर्व ७६।५१०-५११

कार्तिककृष्णस्यान्ते स्वातावृक्षे निहत्य कर्मरज:।
अवशेषं संप्रापद् व्यजरामरमक्षय सौख्यम् ॥
निर्वाणभक्ति- १७

अतएव सिद्ध है कि भगवान् महावीर का निर्वाण कार्त्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात के अवसान में और अमावस्या के प्रातः काल में हुआ है १। इस अवसर पर अनेक राजा, महाराजा, गणनायक, सामन्त श्रेष्ठि तथा जन सामान्य पावापुर के उस सुरम्य पद्मसरोवर के तट पर एकत्रित हुए, जहाँ भगवान् का निर्वाण हुआ था। भगवान् के मुक्त होने पर उन्होंने सोत्साह निर्वाण की पूजा की थी। उन्होंने यह निश्चय किया कि अप्रतिम ज्ञान ज्योति हमारे मध्य अब विलुप्त हो गई है,

१ व्रततिथिनिर्णय (डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री कृत भूमिका) पृ. २३

उसकी स्मृति को जागृत रखने के लिए पार्थिव दीपमालिका आयोजित करें। सर्वज्ञदेव नहीं रहे, किन्तु उनकी वह सर्वप्रकाशन ज्ञान-ज्योति जो तीस वर्ष पर्यन्त हमारे मोहान्धकार को दूर करती रही, शाश्वत है और उनके मार्ग का अनुसरण करने वाले भव्यजीवों का हृदय सदैव आलोकित करती रहेगी। अतएव तभी से जन-जन भगवान् के निर्वाण दिवस को उनकी दैवी ज्ञानज्योति के प्रतीक रूप दीपावली सजाकर मनाते आए हैं। भगवान् ने संसरण से मुक्त होकर मोक्षलक्ष्मी का वरण किया था और उसी समय उनके प्रधान शिष्य गौतम गणेश ने केवलज्ञान प्राप्त किया था। अतएव दीपावली के अंकन में समवसरण का चित्र बनाकर लक्ष्मी एवं एव गणेश के पूजन की प्रवृत्ति हुई १। बाद में लोग ज्ञानलक्ष्मी को तो भूल गये, उसके स्थान पर धनलक्ष्मी की पूजा होने लगी।

दीपावली पर्व जैनो के समान हिन्दुओं में भी सोल्लास मनाया जाता है। इसके अनेक कारण बतलाए जाते हैं–

१– भगवान् राम दशहरे को रावण का वध करके, उसके २० दिन बाद कार्तिक कृष्ण अमावस्या को अयोध्या पधारे थे। उनका स्वागत प्रज्वलित आरती से करने हेतु दीप जलाए गये थे।

२– इस दिन श्री कृष्ण ने नरकासुर का वध किया था।

३– स्वामी शंकराचार्य ने शरीर उसी दिन छोड़ा था।

४– सम्राट् अशोक की दिग्विजय से लौटने की प्रसन्नता में कार्तिक कृष्ण अमावस्या को दीप प्रज्वलित किए गये।

५– सिक्खों के छठे गुरु गोविन्दसिंह का स्वर्गवास इसी दिन हुआ था।

६– स्वामी रामतीर्थ ने १९०६ ई. में दीपावली को रामगंगा में समाधि ली थी।

वात्स्यायन कामसूत्र में दीपावली को यक्षरात्रि महोत्सव कहा गया है। बौद्धों के पुण्फरत्त जातक में कार्तिक की रात्रि को होने वाले उत्सव का वर्णन है। इसी प्रकार कार्त्तिक की पौर्णमासी को होने वाले

---

१ जैन संदेश (२६ अक्टूबर १९७८) पृ. ११५

उत्सव का वर्णन धम्मपद अठकथा में पाया जाता है। इन उल्लेखों से पता चलता है कि कार्तिक में रात्रि के समय कोई उत्सव मनाया जाता रहा है, किन्तु वह क्यों मनाया जाता है तथा उसका रूप क्या था, इसका पता नहीं चलता है १।

रामायण में दीपावली के दिन राम के अयोध्या वापिस लौटने का कोई उल्लेख प्राप्त नही होता है, किसी हिन्दूपुराण में भी इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख नही मिलता है २। जैन सम्प्रदाय में शक सं० ७०५ (वि. सं. ८४०) का रचा हुआ हरिवश पुराण है। उसमें भगवान् महावीर के निर्वाण का वर्णन करते हुए लिखा है– 'महावीर भगवान् भव्यजीवों को उपदेश देते हुए पावापुरी में पधारे और वहाँ के एक मनोहर उद्यान में चतुर्थकाल में तीन वर्ष साढे आठ मास बाकी रह जाने पर कार्तिकी अमावस्या के प्रभातकालीन सन्ध्या के समय योग का निरोध करके कर्मो का नाश कर मुक्ति को प्राप्त हुए। चारों प्रकार के देवताओं ने आकर उनकी पूजा की और दीपक जलाये। उस समय उन दीपकों के प्रकाश से पावानगरी का आकाश प्रदीपित हो रहा था। उसी समय से भक्त लोग जिनेश्वर की पूजा करने के लिए भारतवर्ष मे प्रतिवर्ष उनके निर्वाण दिवस के उपलक्ष में दीपावली मनाते हैं ३।

दीपावली पर्व सफाई और स्वच्छता का प्रतीक है। दीपावली आने के कई दिन पूर्व हम मकान, दुकान, घरों वगैरह की सफाई करते हैं। जिस प्रकार हम बाह्य स्वच्छता पर जोर देते हैं, उसी प्रकार अन्तरङ्ग कर्म मल कलङ्क तथा रागद्वेषादि भाव जो हमारी आत्मा को मलिन करते हैं, को हटाकर उसके स्थान पर अपने हृदय को निर्मल तथा आत्मा को पवित्र बनाना चाहिए। धनतेरस को धन की पूजा के चक्कर में न पड़कर हम उस ध्यान का अभ्यास करें, जिसका अलम्बन कर भगवान् महावीर ने मोक्ष की

---

१ प. कैलाशचन्द्रशास्त्री : जैनधर्म पृ, ३३४ (चतुर्थ सं.)

२ वही पृ. ३३४

३ हरिवशपुराण ६६।१५–२१

उपलब्धि की थी। यद्यपि प्राणियों की मृत्यु अनिवार्य है, किन्तु मृत्यु एक वास्तविक समाधान नहीं है, क्योंकि मृत्यु के बाद पुनः जन्म लेना पड़ता है। जन्म के बाद पुनः जरा और मरण के दुःख भोगने पड़ते हैं। मृत्यु जीवन का वास्तविक समाधान होता तो अनेक व्यक्ति आत्महत्या करके इस समाधान को प्राप्त कर लेते। हमारा वास्तविक लक्ष्य यह होना चाहिए कि वस्तुतत्त्व को भली भाँति समझकर सम्यक् आचरण कर हम उस दशा की उपलब्धि करें, जिसे निर्वाण या मोक्ष संज्ञा से अभिहित किया जाता है। निर्वाण या मोक्षप्राप्ति के बाद पुनः कर्मबन्धन नहीं होता है, पुनः जन्म तथा जरा के दुःख नही भोगने पड़ते हैं।

दीपावली के अवसर पर प्रतिवर्ष लाखों करोड़ों रुपये की आतिशबाजी, पटाखे इत्यादि में व्यय हो जाते हैं। मोमबत्ती, लाइट दीपक इत्यादि से हम आकाश को प्रदीप्त कर देते हैं, किन्तु हमारा अन्तरङ्ग हृदय पहले के ही समान तिमिराच्छन्न रहता है, अतः अपनी आत्मा के ज्ञानरूपी दीपक को जलाने की आवश्यकता है। यदि यह दीपक एक बार जल गया तो अनन्तकाल के गहन मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को तत्क्षण ही मिटाने समर्थ होगा।

भगवान् महावीर के परिनिर्वृत्त होने की घटना सर्वोत्कृष्ट सिद्धि की प्राप्ति की घटना थी। अतः उसी दिन से वीर निर्वाण संवत् का प्रचलन हुआ, जो वर्तमान प्रचलित संवतों में सर्वाधिक प्राचीन है और इसका उपयोग निरन्तर जैन साधु और लेखक करते आए हैं। उनके उल्लेखों के आधार पर भारतीय इतिहास के समय की कड़ियों को भली भाँति जोड़ा जा सकता है। आज के विभिन्न धार्मिक समुदाय दीपावली पर्व का सम्बन्ध अपनी अपनी परम्परा की किसी न किसी महत्त्वपूर्ण घटना के साथ जोड़ते हैं, किन्तु उनके कथनों के आधार पर इस प्राचीन लोकप्रिय महापर्व की ऐतिहासिकता सिद्ध करना दुर्लभ है। उक्त परम्परागत मान्यताओं की प्राचीनता यदि साहित्यिक आधारों, शिलालेखों, पुरातत्त्व आदि में खोजें तो वह कुछ शताब्दियों से अधिक नहीं पहुँच पाती। जैन परम्परा

इस स्थिति का अपवाद है। जैन साहित्य, शिलालेखों और कला में जब दीपावली के मूल को खोजते हैं तो उसका सीधा सम्बन्ध जैन इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना के साथ ईसवींसन् के प्राय: प्रारम्भकाल से ही रहता आया सिद्ध होता है १। भगवान् महावीर द्वारा प्रचारित धर्म उस समय लोगों में इतना लोकप्रिय और कल्याण कारी सिद्ध हुआ था कि लोगों ने महावीर से प्रभावित होकर उनके नाम तथा चिन्ह के आधार पर क्षेत्रों का नामकरण वर्द्धमान (वर्द्धमान) सिंहभूमि तथा वीरभूमि किया था। धर्मप्रचारार्थ उनका विहार जिस प्रदेश में हुआ था उस प्रदेश का नाम विहार हो गया। पहले यह अग देश के नाम से पुकारा जाता था।

दीपावली के दिन लक्ष्मी पूजन के समय मिट्टी का घरौंदा और खेल खिलौने भी रखे जाते हैं। यह भगवान् महावीर अथवा उनके शिष्य गौतम गणधर की उपदेश सभा की यादगार में हैं। चूँकि उनका उपदेश सुनने के लिए मनुष्य, पशु सभी जाते हैं, अत: उनकी यादगार में उनकी मूर्तियाँ रखी जाती हैं।

इस दिन प्रात: जैनमन्दिरों में भगवान् महावीर की पूजा के समय निर्वाणकल्याणक के अर्घ के समय अष्टद्रव्य के साथ लाडू चढ़ाया जाता है। लोगों का कहना है कि यह लाडू अर्द्धचन्द्राकार सिद्ध-शिला का प्रतीक है, जहाँ भगवान् मोक्षावस्था में अवस्थित हैं।

आत्मजयी महावीर अपने निर्वाण से पहले कह गए–

धर्म सर्वश्रेष्ठ मङ्गल है। धर्म का अर्थ है– अहिंसा, सयम और तप। जिसका मन सदा धर्म में रमा रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

त्रस और स्थावर जीवों का प्रमादवश प्राणवध न करना अहिंसाणुव्रत है।

जिसमें हिंसा करना छोड़ दिया है, वही समझदार है और वही ज्ञानी है, इस बात को भली भाँति समझो।

प्रिय हितकर और तथ्यपूर्ण वचन बोलना सत्यमहाव्रत है। सत्य वही है जो न अप्रिय हो और न अहितकार हो।

---

१ जैनसन्देश २६ अक्टू. १९७८ (डॉ ज्योति प्रसाद जैन का लेख) पृ. ११५

जो वचन दूसरे को पीड़ित करने वाला हो, यदि वह सत्य भी हो तो भी न बोले ।

जो बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य में नहीं लेता, दूसरे की भूली हुई वस्तु को नहीं उठाता, थोड़े लाभ से ही सन्तुष्ट रहता है तथा कपट लोभ, माया व क्रोध से पराए द्रव्य का हरण नहीं करता है, वह शुद्धमति दृढ़निश्चयी श्रावक अचौर्याणुव्रती है ।

दिव्य या स्थूल शरीरों के साथ काम भोगों का मन, वचन और काया से स्वयं त्याग करना, कराना तथा करने वाले का अनु-मोदन करना ब्रह्मचर्य है ।

आसक्ति ही परिग्रह है जो अल्पाहारी, अल्पभाषी, अल्पशायी तथा अल्पपरिग्रही है, उसे देवता भी प्रणाम करते हैं। परिग्रह दुःख का कारण है, असन्तोष और अविश्वास का जनक है और हिंसा रूपी फल का उत्पादक है। अतः परिग्रह पर नियन्त्रण करना चाहिए।

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सभी सद्गुणों का नाश करता है ।

क्षमा से क्रोध को, मृदुता से अभिमान को, सरलता से माया को और अनासक्ति से लोभ को जीतना चाहिए ।

जिस प्रकार आग की एक चिनगारी तृणसमूह को जला देती है, उसी प्रकार मद्यपान से विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य, पवित्रता, दया व क्षमा सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।

जिस प्रकार अतिसुन्दर चित्ररचना पर काजल गिर जाय तो वह नष्ट भ्रष्ट हो जाती है, उसी प्रकार मद्यपान से व्यक्ति की कान्ति, कीर्ति, बुद्धि एव लक्ष्मी नष्ट हो जाती है ।

कर्मों के नष्ट हो जाने पर आत्मा में अनन्तवीर्य (शक्ति), अती-न्द्रिय ज्ञान व सुख उत्पन्न हो जाते हैं ।

जिस साधु के किसी परवस्तु में न राग है, न द्वेष तथा मोह है और जो सुख व दुःख में साम्यभाव रखता है, उसके किसी प्रकार के शुभ या अशुभ नहीं कर्म बँधते हैं ।

पुष्पाञ्जलि पर्व

प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ल पंचमी से लगातार ५ दिन तक पुष्पाञ्जलि पर्व मनाया जाता है। इस व्रत में केतकी आदि विकसित और सुगन्धित पुष्पों से चौबीस तीर्थंकरों की पूजा करना चाहिए। यदि ये पुष्प न मिलें (अथवा वास्तविक पुष्प से पूजन करना उपयुक्त न समझें) तो पीले चावलों से भगवान् की पूजा करना चाहिए। पाँच वर्ष के पश्चात् व्रत का उद्यापन करना चाहिए। इस व्रत का परमफल केवल ज्ञान की प्राप्ति है। तिथिक्षय में यह व्रत एक दिन पहले से और तिथिवृद्धि में एक दिन अधिक व्रत किया जाता है। पुष्पाञ्जलि व्रत में पंचमी और षष्ठी इन दोनों दिनों का उपवास, सप्तमी को पारणा, अष्टमी और नवमी का उपवास तथा दशमी को पारणा की जाती है। एकान्तर उपवास करने वाले को (अर्थात् एक दिन उपवास, दूसरे दिन पारणा, पुनः उपवास तत्पश्चात् पारणा इस क्रम से उपवास करने वाले को) तिथिक्षय होने पर एक दिन पहले से व्रत करने के कारण मध्य में दो पारणायें करना चाहिए। पंचमी और अष्टमी की पारणा अथवा षष्ठी और अष्टमी की पारणा की जाती है। एकान्तर उपवास और पारणा का क्रम चल सके, ऐसा करना चाहिए। यह पुष्पाञ्जलि व्रत कर्मरूपी रोग को हरने वाला तथा परम्परा से मुक्ति को प्रदान करने वाला होता है ※।

उपवास के समय जलादि अष्ट द्रव्य, भृङ्गार, घण्टा, तोरणमालिका, चँदोवा, दीपमाला, धूपदहनपात्र तथा भामण्डल आदि पृथक्-पृथक् रूप से पाँच-पाँच वस्तुयें लाकर तथा खाजा, मोदक इत्यादि २५ स्वाद्य और खाद्य वस्तुयें इस दिन जिनमन्दिर में लाना चाहिए। पञ्चरत्न के चूर्ण से सुन्दर पच्चीस मण्डल बनाए तथा उसके मध्य में कर्णिका से युक्त मेरु बनाए। अनन्तर गन्धकुटी में स्थित जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करके शास्त्र और गुरु की भी क्रम से पूजा करे। अनन्तर गुरु की आज्ञा से उस मण्डल की पूजा के लिए जाकर सर्व-

※ आचार्य सिंहनन्दी : व्रततिथिनिर्णय पृ. २४४-२४५

प्रथम आह्वानन, स्थापन तथा सन्निधापन करे अनन्तर जाप और स्तुति कर पुष्पांजलि का क्षेपण करे। पुष्पाञ्जलि क्षेपण कर पंचमेरु की कर्णिका के विषय में अष्टक पढ़े। अनन्तर इसके समीप वर्ती पद्मों में से प्रत्येक की पूजाकर पूर्णार्घ्य दे तथा मन में जाप्य करें ✻।

इस प्रकार उपर्युक्त व्रत का सम्बन्ध पञ्चमेरु सम्बन्धी जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमाओं की अर्चना से है। भाद्रपद शुक्ल की पंचमी से लेकर नवमी तक के दिन बड़े सुखदायक हैं, क्योंकि पंचमेरु सम्बन्धी जिन चैत्यालयों से आकर देवलोग वहाँ पर स्थित जिन प्रतिमाओं की अष्टद्रव्य से अर्चना करते हैं, उनके आगे नृत्य करते हैं जिनेन्द्र भगवान् के गुणों का वर्णन करते है तथा कुसुमवृष्टि इत्यादि करते हैं। इसी कुसुमवृष्टि के प्रतीक के रूप में ही पाँच प्रकार के पुष्पों से इन दिनों भगवान् की पूजा की जाती है। इस प्रकार इस व्रत का नाम पुष्पाञ्जलि सार्थक हो जाता है।

पुष्पाञ्जलि व्रत को कथा–

जम्बूद्वीप की दक्षिण दिशा में सीता नदी है। वहाँ मंगलावती देश के रत्नसंचयपुर में राजा वज्रसेन राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम जयवन्ती था। उन दोनों के कोई पुत्र नहीं था। एक बार रानी ने जिनमन्दिर में विराजमान मुनिराज को नमस्कार कर पूछा कि मुझे पुत्र होगा या नहीं। मुनि महाराज ने कहा कि तुम्हारे छह खण्ड का स्वामी चक्रवर्ती पुत्र होगा तथा अन्त में वह मोक्ष को प्राप्त करेगा। क्रम से नवमास पूर्णकर रानी ने पुत्र प्रसव किया। पुत्र का नाम रत्नशेखर रखा गया।

एक दिन रत्नशेखर अपने मित्रों के साथ क्रीड़ा कर रहा था तब मेघवाहन नामक एक विद्याधर ने उसे देखा और प्रमुदित हो उसे पाँच सौ विद्यायें प्रदान कर दीं। दोनों प्रगाढ़ मित्र बन कर मेरु पर्वत की वन्दना के लिए गए। वह विजयार्द्ध पर्वत के

✻ दि० जैन व्रतोद्यापन संग्रह (ईडर प्रकाशन) पृ. ४०१–४०२

सिद्धकूट चैत्यालय में पूजा स्तवन कर रङ्गमण्डप में बैठा था कि रथनूपुर नगर की राजकन्या मदनमञ्जूषा सखियों सहित दर्शनार्थ वहाँ आई और रत्नशेखर को देखकर मोहित हो गई। राजा रानी ने उसकी उदासी का कारण जानकर स्वयंवर मण्डप आयोजन किया। स्वयंवर में रत्नशेखर भी सम्मिलित हुआ। कुमारी ने वरमाला रत्नशेखर के गले में डाल दी। धूमकेतु विद्याधर ने यह देखकर मन में विशेष क्रोध किया। कन्या के लिए उसने दुष्टता पूर्ण आचरण किया। विद्या के बल से उसने अनेक प्रकार की माया की तथा रत्नशेखर से युद्ध किया। रत्नशेखर ने उसे जीतकर कन्या का पाणिग्रहण किया। वह मदनमञ्जूषा रानी के साथ अपने घर आया। वज्रसेन तथा उसकी रानी उसे देखकर अत्यधिक प्रमुदित हुए।

एक दिन इष्टमित्रों के साथ सभी लोग सुदर्शनमेरु की वन्दना के लिए गए। वहाँ उसने दो चारणमुनियों की वन्दना की तथा प्रार्थना की कि मदनमञ्जूषा तथा मेघवाहन का मुझ पर अधिक प्रेम क्यों है ? कृपया पूर्वजन्म के सम्बन्ध का वर्णन कीजिए।

मुनिराज बोले— हे राजन् ध्यान देकर सुनो। एक मृणाल नाम का नगर है। वहाँ पर एक श्रुतकीर्ति नामक राजमन्त्री था। उसकी बन्धुमती नामक स्त्री थी। एक दिन वह वनक्रीड़ा के लिए गया हुआ था। जब वह अपनी स्त्री के साथ रमण कर रहा था तभी एक सर्प ने उसकी स्त्री को डस लिया। मन्त्री ने अपनी स्त्री को मृतक देख विरक्त हो जिनालय में जाकर दीक्षा ले ली। यथा शक्ति कुछ दिन तप किया। अनन्तर भ्रष्ट हो पुनः गृहारम्भ करने लगा। तब उसकी पुत्री ने कहा— हे पिता जी ! आप मेरु पर किस कारण चढ़कर पुनः लज्जा छोड़कर ससार रूपी सागर में पड़ गये हैं। प्रभावती के इन सारपूर्ण वचनों को सुन मन्त्री ने उस पर क्रोध किया। उसने विद्या को आज्ञा दी। विद्या पुत्री को वन में ले गई।

प्रभावती मन में चिन्तित हुई, उसने मन में जिनेन्द्र भगवान् का स्मरण किया। तब वहाँ विद्या ने प्रकट होकर कहा कि हे पुत्री ! तुम जहाँ बतलाओ मैं तुम्हें वहीं ले चलूँ। पुत्री ने कहा—

मुझे कैलाश पर्वत पर ले चलो, मुझे जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन की अत्यधिक रुचि है। देवी उसे वहाँ ले गई। वहाँ उसने अर्हन्त बिम्ब के दर्शन किए। वह दर्शन कर बैठी ही थी कि वहाँ पर देवगण आए पद्मावती भी आई। प्रभावती ने पद्मावती से पूछा– आज यहाँ इतने देव, देवी किस कारण आए हैं ? पद्मावती ने सारपूर्ण वाणी में कहा आज पुष्पाञ्जलि व्रत है। यह व्रत भादों सुदी पंचमी से आरम्भ होता है और पाँच दिन तक चलता है। इसमें यथाशक्ति प्रोषध करना चाहिए तथा चौबीसों तीर्थंकरों की पूजा करनी चाहिए। नाना प्रकार के पुष्पों की माला लेकर उसे जिनप्रतिमा के आगे तीन बार चढ़ाना चाहिए। बहुत भक्ति से युक्त हो विनय का आचरण करना चाहिए तथा 'ॐ ह्रीं पञ्चमेरु सम्बन्ध्यशीति जिनालयेभ्यो नमः' मन्त्र का जाप करना चाहिए। इस प्रकार पाँच वर्ष व्रत कर उद्यापन करना चाहिए *तथा चार प्रकार का दान देना चाहिए। यदि उद्यापन की* शक्ति न हो तो दूना व्रत करना चाहिए। यह सुनकर प्रभावती ने व्रत धारण कर लिया। पाँच वर्ष तक व्रताचरण कर उसने विधि-पूर्वक उद्यापन किया। पद्मावती देवी उसे मृणालपुर ले आई वहाँ उसने स्वयम्प्रभ मुनि के समीप दीक्षा ले ली। वह दुर्धर तप करने लगी।

उसके तप का माहात्म्य उसके पिता को सहन नहीं हुआ। उसने उसके ऊपर विद्याओं के द्वारा अनेक उपसर्ग कराए। उन उपसर्गों से प्रभावती किञ्चित् भी विचलित नहीं हुई और समाधिपूर्वक मरण कर अच्युत स्वर्ग में पद्मनाभ नामक देव हुई। देव ने स्वर्ग में विचार किया कि मैं पूर्व पुण्य के उदय से यहाँ आया हूँ। मेरा पिता भ्रष्ट आचरण वाला है, मैं उसे सबोधित करूँ। यह विचार कर देव आया और उसने पिता का समाधिमरण कराया।

वह उसी स्वर्ग में देव हुआ। बन्धुमती माता का जीव उसी स्वर्ग में उत्पन्न हुआ। तू प्रभावती का जीव स्वर्ग से आकर यहाँ रत्नशेखर हुआ है तथा माता का जीव मदनमंजूषा हुआ है श्रुतकीर्ति का जीव मन्त्री मेघवाहन हुआ है। व्रत का फल तथा गुरु की वाणी

सुनकर उसने पुनः व्रत धारण किया । अपने स्थान पर आकर चक्र-वर्ती पद के वैभव को भोगा । समय पाकर उसे वैराग्य हुआ । उसने राज्यभार पुत्र को देकर त्रिगुप्ति मुनि के चरणों में दीक्षा ले ली । जब रत्नशेखर ने दीक्षा ली तभी मेघवाहन भी मुनि हो गया । उन्होंने दुर्धर तप कर केवलज्ञान की प्राप्ति की अनन्तर अघातिया कर्मों का विनाश कर मोक्ष प्राप्त किया । जो कोई इस व्रत का पालन करेगा, वह इसी प्रकार अजर-अमर पद का स्वामी होगा ।



तीन बातें याद रखें

१. इन तीनों का सम्मान करो :
माता, पिता और गुरु

२. तीन को हमेशा वश में रखो :
मन, काम, और लोभ

३. तीन पर दया करो :
बालक, भूखा और पागल

संकलन : रमेश कुमार जैन.
एडवोकेट, नई दिल्ली



सुगन्धदशमी पर्व

सुगन्ध दशमी पर्व जैनों का विख्यात पर्व है। इस पर्व का वर्तमान में महिला वर्ग में विशेष रूप से प्रचलन है, किन्तु इसे सभी मना सकते हैं, और इसमे होने वाले लाभ के अधिकारी हो सकते हैं।

विधि– सुगन्धदशमी व्रत का पालन करने वाले की विधि यह है– भाद्रपद शुक्ल पंचमी के दिन इसमें उपवास किया जाता है। इस दिन से प्रारम्भ कर पाँच दिन अर्थात् भाद्रपद शुक्ल नवमी तक कुसुमाञ्जलि चढ़ाना चाहिए। कुसुमांजलि में फनस, बीजपूर, फोफल कूष्माण्ड, नारियल आदि नाना फलों तथा पंचरंग वाले और सुगन्धित फूलों तथा महकते हुए उत्तम दीप और धूप आदि से बड़े महोत्सव के साथ भगवान् का पूजन किया जाता है। इस प्रकार पाँच दिन अर्थात् नवमी तक पुष्पांजलि देकर फिर दशमी के दिन जिनमन्दिर में सुगन्धित द्रव्यों द्वारा सुगन्ध करना चाहिए और उस दिन आहार का भी नियम करना चाहिए। उस दिन या तो प्रोषध करें और यदि सर्वप्रकार के आहार का परित्याग रूप पूर्ण उपवास किया जा सके तो एक बार मात्र भोजन का नियम तो अवश्य पालें। चौबीसी जिन भगवान् का अभिषेक करके दश बार दश पूजन करना चाहिए। इस दिन केशर, अगर, कपूर और चन्दन आदि को घिसकर शरीर में लेप करना चाहिए और अक्षातदि द्रव्य से पूजन करना चाहिए। एक दशमुख कलश की स्थापना कर उसमें दशाङ्गी धूप खेना चाहिए। पुनः अक्षतों द्वारा दश भागों में नाना रंगों से विचित्र सूर्य मण्डल बनाना चाहिए। उस मण्डल के दश भागों में दश दीप स्थापित करके उनमें दश मनोहर फल और दश प्रकार नैवेद्य चढ़ाते हुए दश बार जिन भगवान् की स्तुति, वन्दना करना चाहिए। सात प्रकार का धान्य लेकर उससे स्वस्तिक लिखना चाहिए और उसमें दश दीपक रखकर जलाना चाहिए। इस प्रकार की विधि हर्षपूर्वक मन,

वचन, काय से पाँचों इन्द्रियों की एकाग्रता सहित प्रतिवर्ष करते हुए दश वर्ष तक करना चाहिए।

उद्यापन– प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ल पंचमी से लेकर दशमी तक उक्त प्रकार का व्रत पालन करते हुए जब दश वर्ष पूर्ण हो जाँय तब उस व्रत का उद्यापन करना चाहिए। उस अवसर पर शांति विधान या महाभिषेक या इसी प्रकार की कोई महान् विधि प्रारम्भ करना चाहिए। समस्त जिनमन्दिर को पहले मनोहर पुष्पों से खूब सजाना चाहिए। आँगन में दस रग का चँदोवा तानना चाहिए। दश ध्वजायें फहराना चाहिए दश पताका, दश बजने वाली तारिकायें (घण्टियाँ), दश जोड़ी चमर और दश धूपघट ये सब सजाना चाहिए। दश पुस्तकें मन्दिर अथवा शास्त्र भण्डार को देना चाहिए तथा दश व्यक्तियों को औषधिदान देना चाहिए। जो व्रतधारी ब्रह्मचारी आदि श्रावक हों उन्हें दश धोतियाँ देना चाहिए। आर्यिकाओं को वस्त्रादिक प्रदान करना चाहिए। मुनियों को शौच के साधन कमण्डलु, संयम के साधन पिच्छिका, ज्ञान के साधन शास्त्र तथा इसी प्रकार के अन्य धर्म व ज्ञान की साधना में उपयोगी वस्तुओं का यथायोग्य दान करना चाहिए।

उपर्युक्त व्रतोद्यापन की विधि यदि अल्प रूप में भी भक्ति सहित की जाय तो बहुत फलदायक होती है। ऐसा कभी नहीं सोचना चाहिए कि सजावट व दान आदि की विधि यदि थोड़ी की जायेगी तो उसका फल भी थोड़ा होगा। साग मात्र का थोड़ा सा भोजन सुपात्र को कराने से भी रत्नों की वृष्टि रूप महान् फल प्राप्त होता है। यह सब मुख्यता से भक्ति का ही प्रभाव है। उस भक्ति के प्रदर्शन का स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार बतलाया जाता है। जो कोई नर या नारी इस व्रत का पालन करता है, वह इस जन्म में सुख पाता है, मरकर स्वर्ग में देव होता है और फिर अनुक्रम से सुख भोगता हुआ मोक्षसुख को भी पा लेता है।

सुगन्ध दशमी व्रत की कथा— सुगन्धदशमी व्रत की प्रसिद्धि का

कारण उसके सम्बन्ध में प्रचलित एक कथा है, जो इस प्रकार है–

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के काशी देश में बाराणसी नगरी थी। वहां पर राजा भूपाल राज्य करता था। उसके श्रीमती नामक स्त्री थी। एक समय वह वनक्रीड़ा को गया तभी राजा ने अपने समीप से एक मासोपवासी मुनिराज को नगर में आहार ग्रहण करने हेतु जाते देखा। राजा ने रानी से कहा– कि तुम जाकर अपार भक्ति से मुनि को आहार दो। रानी को मन में बड़ा क्रोध आया। उसने सोचा विघ्न करने वाले ये मुनि ही हैं, इन्होंने मेरा सुख गंवा दिया। मन में दुःखी होते हुए वह भी वह पति की आज्ञा मानकर चली गई। उसने घर जाकर कड़वी तूँबड़ी का आहार बनाया और उसे मुनिराज को दे दिया। मुनिराज आहार कर चले तो मार्ग में ही उन्हें पीड़ा होने लगी। वे भूमि पर गिर पड़े। यह देखकर श्रावकों में कोलाहल हो गया। वहीं पर एक जिनालय था, उपचार हेतु वे उन्हें वहाँ ले गये सभी ने रानी के इस प्रकार खोटे आहार देने की निन्दा की। जब राजा ने यह बात सुनी तो उसे भी बहुत दुःख हुआ। उसने रानी को खोटे वचन कहे और उसके वस्त्राभूषण छीनकर बाहर निकाल दिया दुष्टकर्मों के प्रभाव से रानी के शरीर में कोढ़ हो गया। प्राण छोड़ कर उसने भैंस के रूप में जन्म लिया। बचपन में ही इसकी माँ मर गयी तब यह अत्यन्त दुर्बल हो गई। एक बार कीचड़ में फँस गई। वहीं से उसने किसी मुनि को देखा, तब वह क्रोधित होकर सींग हिलाने लगी। तभी वह और अधिक कीचड़ में डूब गई और मृत्यु को प्राप्त हो गोकर गर्दभी हुई। वह पिछले पैर से पंगु थी। उसने एक मुनिराज को देखा। उन्हें देखकर उसके मन में कलुषपरिणाम हुए। उसने उनके ऊपर पिछले पैर का प्रहार किया। प्राण छोड़कर वह अपने पाप कर्म के प्रभाव से शूकरी हुई। श्वानादिक के दुःख से युक्त हो वह मरकर चाण्डाल के पुत्री हुई। गर्भ में जब वह आई तो उसके पिता का देहान्त हो गया और जन्म के समय उसकी माँ मर गई। जो कोई स्वजन उसका पालन करता था, उसकी मृत्यु हो जाती थी। उस कन्या के शरीर से अत्यधिक दुर्गन्ध आती थी तब उसे लोगों ने जंगल में छोड़ दिया।

दुर्गन्धा जंगल में कन्द मूल फल खाती हुई घूमा करती थी। वहाँ एक मुनि महाराज शिष्य सहित एक बार आए। शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया कि इतनी भीषण दुर्गन्ध किस वस्तु को आ रही है। मुनि महाराज ने कहा- कि जो प्राणी मुनि को दुःख देता है। वह नाना प्रकार के दुःख पाता है। इस कन्या ने पूर्व में मुनि को अधिक दुःख दिया था, इसी कारण नाना तिर्यच योनि में परिभ्रमण कर यह चाण्डल के घर कन्या हुई है। शिष्य ने गुरु से पुनः पूछा- इस कन्या का यह पाप कैसे नष्ट हो सकता है ? गुरु महाराज ने कहा कि जिनधर्म को धारण करने से पाप दूर हो जाता है।

गुरु शिष्य के उपर्युक्त संवाद को उस कन्या ने सुना और उपशम भावों से युक्त हो, उसने पंच अभक्ष्य फलों का त्याग कर दिया, शुद्ध भोजन किया तथा शुद्ध भाव से प्राण छोड़े। अनन्तर वह उज्जयिनी में एक दरिद्र ब्राह्मण के पुत्री हुई। उसके उत्पन्न होते ही माता पिता मर गये। यह अत्यन्त दुःखी हुई वृद्धावस्था में एक दिन वन मे गई। वहाँ अश्वसेन राजा जाकर सुदर्शन नामक मुनिराज से धर्म श्रवण कर रहे थे। उसी समय वह कन्या वहाँ से निकली। मुनिराज ने कन्या की ओर इङ्गितकर कहा- कि पाप के उदय से ऐसी हालत होती है। कन्या घास का गट्ठर उतार कर मुनि के वचन जब सुन रही थी, तभी उसे पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। वह मूच्छित हो गई। राजा ने उपचार कराकर उसे सचेत किया तथा उससे मूर्च्छा का कारण पूछा- कन्या ने अपने पूर्व जन्म का वृतान्त बतला दिया। यह सुनकर राजा ने मुनिवर से कहा यह कन्या अब कैसे सुख पाएगी ? मुनि महाराज ने कहा कि यदि यह कन्या सुगन्धदशमी व्रत का पालन करेगी तो सुख पायेगी। सुगन्धदशमी व्रत की विधि के विषय में प्रश्न पूछने पर मुनि महाराज ने सारी विधि बतला दी।

राजा ने कन्या को बुलाकर धूपदशमी व्रत बतलाया। कन्या ने उसका भक्ति पूर्वक पालन किया। तब उसका पूर्व पाप कर्म नष्ट हुआ। राजा तथा नगरवासियों ने भी उस व्रत को धारण किया।

एक कनकपुर नगर था। उसके राजा का नाम कनकप्रभ था। उस राजा की रानी कनकमाला थी। राजा के एक राज श्रेष्ठी था, जिसका नाम जिनदत्त था। जिनदत्त की स्त्री जिनदत्ता थी। इन दोनों के उपर्युक्त पुत्री ने जन्म लिया। उसका नाम तिलकमती था। वह अत्यधिक रूपवती और सुगन्धवती थी। पुनः उसके कुछ पापकर्म का उदय आया, जिससे उसकी माँ की मृत्यु हो गई। माता के बिना वह दुःख पाने लगी। जिनदत्त ने दूसरा विवाह कर लिया। उसकी नवविवाहिता पत्नी गोधनपुर नगर के वृषभदत्त वणिज की सुता बन्धुमती से सेठ की तेजोमती नामक कन्या हुई। बन्धुमती तिलकमती से द्वेष करने लगी। तब सेठ ने दासियों से तिलकमती की सेवा करने को कहा।

एक बार राजा कञ्चनप्रभ ने जिनदत्त को दूसरे द्वीप भेज दिया। जाते समय वह बन्धुमती सेठानी से कह गया कि मैं राजा के कार्य से दूसरे द्वीप को रहा हूँ, तुम तिलकमती तथा तेजोमती का विवाह श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त वर के साथ कर देना। सेठ जिनदत्त चले गए। कन्या की सगाई वाले जो भी आते वे तेजोमती की अपेक्षा तिलक-वती को अधिक पसन्द करते थे। बन्धुमती तिलकवती की निन्दा करती थी, किन्तु कोई भी उसकी बात नहीं मानता था। एक बार उसने तिलक-वती को वरपक्ष को दिखलाकर तेजोमती के विवाह का निश्चय किया। जब ब्याह के साथसब लोग आए तब वह तिलकवती का श्रृंगार करके उसे अपने साथरात्रि में श्मशान ले गई। वहाँ पर उसने चारों ओर चार दीपक जलाकर रख दिए और बीच में तिलकवती को बैठाकर कहा कि यहाँ पर तुम्हारा पति आएगा। उसके साथ विवाहकर तुम घरचली आना। ऐसा कहकर वह वहाँ से चली गई। आधी रात्रि के समय राजा ने अपने महल से श्मशान तरफ दीपकों की जलती हुई ज्योति देखी और बीच में कन्या को देखा। देखकर मन में विचार किया कि यह देवसुता है या यहाँ यक्षिणी है अथवा किन्नरी है अथवा कोई भी है ? यहाँ क्यों आई है ? ऐसा सोचकर तलवार लेकर वह वहाँ चला जहाँ तिलकमती बैठी थीं। राजा ने तिलकमती से वहाँ बैठने का कारण पूछा– कन्या ने कहा कि राजा ने मेरे

पिता को रत्नद्वीप भेज दिया है तथा मेरी माता मुझे यहाँ बैठा गई है तथा कह गई है कि मेरा पति यहाँ आएगा। इस स्थान पर तुम आए हो अतः तुम ही मेरे पति भर्ता हो। यह सुनकर राजा ने उसके साथ विवाह किया। राजा प्रातः जब जाने लगा तो तिलकवंती ने उससे कहा कि तुम तो मेरे पति हो, मेरा उपभोग कर अब तुम कहाँ जा रहे हो। राजा ने उत्तर दिया, कि मैं प्रतिदिन रात्रि को तुम्हारे पास आऊँगा। तिलकमती ने सिर झुकाकर पूछा–मैं तुम्हारा नाम क्या बतलाऊँगी। राजा ने अपना नाम गोप बतलाया।

बन्धुमती घर आकर कहने लगी कि तिलकमती दुःख की खान है। बिवाह के समय पता नहीं उठकर कहाँ चली गई? ढूंढ़ते-ढूँढ़ते उसने कन्या को श्मशान में पा लिया। जाकर उससे कहा कि यहाँ क्यों आई है? क्या तुझे भूत प्रेत लग गए हैं? तिलकवती ने हर्षित होकर कहा कि हे माता! जैसा तुमने कहा था, वैसा ही मैंने किया है। बन्धुमती जोर से कहने लगी कि यह असत्य बात कह रही है। ऐसा कहकर वह उसे घर ले आई। उसने घर आकर उसके पति के विषय में पूछा–तिलकमती ने कहा कि मैंने गोप से विवाह किया है। यह सुनकर उसने उस पर कुपित हो अपने पास का ही एक घर उसके रहने के लिए दे दिया। प्रतिदिन राजा उसके घर आने लगा। बन्धुमती तिलकमती को जलाने के लिए तेल ही नहीं देती थी, अतः दोनों अँधेरे में ही रहते थे।

कुछ दिन बीत जाने पर बन्धुमती ने तिलकमती से कहा कि तू ग्वाले से आज कहना कि मुझे दो बुहारी लाकर दे जाना। रात्रि में तिलकमती ने अपने स्वामी से माता को देने के लिए दो बुहारी माँगी। राजा ने दूसरे दिन स्वर्णमय सींको वाली तथा रत्नमय मूठ वाली दो बुहारी लाकर तिलकमती को दे दी। साथ ही उसे उत्तम सोलह आभूषण तथा वस्त्र और दिए। तिलकमती ने तब राजा के चरण धोकर उन्हें केशों से पोंछा। प्रातः काल राजा तो अपने महल चला गया। तिलकमती ने बन्धुमती को दोनों बुहारी दे दीं तथा उसे वस्त्र एवं आभूषण भी दिखलाए। उन्हें देखकर

बन्धुमती ने कहा कि तेरा भर्ता चोर है, उसने राजा के आभूषण चुराए हैं, ऐसा कहकर वे आभूषण छीन लिए । तिलकमती दुःखी हुई, उसे राजा ने सात्वना दी कि तुम चिन्ता मत करो, मैं और ला दूंगा ।

जिनदत्त रत्नद्वीप से आया । बन्धुमती ने पति से कहा– कि तुम्हारी पुत्री के अवगुण कहाँ तक कहें, विवाह के समय उठकर पता नहीं कहां चली गई और उसने चोर के साथ विवाह कर लिया । वह चोर राजा के यहाँ जाता है और वस्त्राभूषण चुरा कर ले आता है । उस चोर ने इसे ये वस्त्राभूषण दिए । इन्हें छीनकर मैंने रख लिया है । यह कहकर उसने पति के सामने वे वस्त्राभूषण रख दिए । सेठ यह देख कंपित हो गया तथा उन वस्त्राभूषणों को राजा के सामने रखकर सब वृत्तान्त कह सुनाया । राजा ने कहा– यह बात तो ठीक है, किन्तु चोर के विषय में भी तो बतलाओ । सेठ ने कन्या से चोर के विषय में पूछा– कन्या ने कहा कि मेरी माता मुझे घर में जलाने के लिए दीपक ही नहीं देती थी, अतः मैंने अपने पति का मुँह नहीं देखा, किन्तु मैं एक तरीके से पहचान सकती हूँ कि मैं प्रतिदिन पति के आने पर उनके चरण धोती थी । चरणों को धोकर मैं पति की पहचान कर सकती हूँ ।

सेठ ने जाकर राजा से यह बात कही । राजा ने कहा– कि चोर का पता लगाने के लिए हम हम आज तुम्हारे घर आयेंगे । सेठ ने घर जाकर तैयारी की । राजा आया सारी प्रजा इकट्ठी हुई । तिलकमती नेत्र बन्दकर सभी के चरण धुलाने लगी, किन्तु सभी के विषय में वह कहती जाती थी । कि यह मेरा पति नहीं है । जब राजा आया तब उसके चरण धोकर उसने कहा कि यह मेरा पति है । राजा यह सुनकर हँसकर कहने लगा कि इस कन्या ने मुझे चोर बना दिया है यह सुनकर तिलकमती कहने लगी चाहे राजा हो या कोई और, मेरा पति तो यही है । उसकी बात सुनकर सब हँसने लगे । राजा ने कहा– कि आप लोग व्यर्थ हँसी मत कीजिए, इसका पति मैं ही हूँ । लोगों के पूछने पर राजा ने सारा वृत्तान्त कह दिया । सारे लोगों ने कहा कि यह कन्या धन्य है जो कि इसने राजा जैसा पति पाया

पूर्वजन्म में इसने व्रत किया इसका यह फल इसे प्राप्त हुआ है। सेठ ने भोजन कराकर सबके समक्ष इन दोनों का विवाह करा दिया। राजा ने तिलकमती को पटरानी बना दिया। एक बार राजा अपनी रानी के साथ जिनमन्दिर गया हुआ था, वहाँ उसने श्रुतसागर मुनि के दर्शन किए तथा उनसे प्रश्न किया कि मेरी यह रानी इतनी रूप सम्पदा वाली कैसे हुई ? मुनि महाराज ने मुनिनिन्दा से लेकर सुगन्ध दशमी व्रत धारण करने इत्यादि की सारी कथा कह दी।

इसी अवसर पर उस सभा में किसी देव ने प्रवेश किया। उसने जिनेन्द्र देव, जैनशास्त्र और जैनगुरु को प्रणाम किया, अनन्तर वह महादेवी तिलकमती के चरणों में आ गिरा। वह बोला– स्वामिनि, अपने विद्याधर रूप पूर्व जन्म में तुम्हारे ही प्रसङ्ग से मैंने सुगन्धदशमी व्रत का अनुष्ठान किया था। उसी व्रतानुष्ठान के प्रभाव से मैं स्वर्ग में महान् ऋद्धिमान् देवेन्द्र हुआ हूँ। हे देवि ! तुम मेरे धर्म साधन में कारण हुई हो, अतः तुम्हारे दर्शन के लिए मैं यहाँ आया हूँ। हे देवि ! तुम मेरी जननी हो। इतना कहकर और रानी को प्रणाम कर वह देव आकाश में चला गया। यह दृश्य देखकर सभी को सुगन्धदशमी व्रत पर और भी अधिक दृढ़ श्रद्धा हो गई। सभी अपने घर गए।

तिलकमती ने सुगन्धदशमी व्रत ग्रहण कर प्रायोपगमन धारण किया और समाधिमरण किया अतः वह स्त्री पर्याय को छोड़कर ईशान स्वर्ग में दो सागर की आयु वाला देव हुआ और आगामी भव में उसे संसार से मुक्ति रूप अद्भुत फल प्राप्त होगा।





दशलक्षण पर्व

इतिहास — भाद्रपद मास अत्यन्त पवित्र है। इस माह में सबसे अधिक व्रत आते हैं, जैसे — दशलक्षण, षोडशकारण रत्नत्रय, पुष्पाञ्जलि, आकाशपञ्चमी, सुगन्धदशमी, अनन्त चतुर्दशी, श्रुतस्कन्धव्रत निर्दोष सप्तमी, चन्दन षष्ठी, तीस चौबीसी, जिनमुखावलोकन, रुक्मिणी व्रत, निःशल्यअष्टमी, दुग्धरसी, धनदकलश, शीलसप्तमी, नन्दसप्तमी, कांजीबारस, लघुमुक्तावली, त्रिलोकतीज, श्रावण द्वादशी और मेघमाला व्रत।

दशलक्षण पर्व का दूसरा नाम पर्यूषण पर्व भी है। इसका आरम्भ भाद्रपद शुक्ला पञ्चमी से होता है। पर्यूषण का आरम्भ दिन सृष्टि का आदि दिन है; क्योंकि छठवें काल के अन्त में भरत और ऐरावत खण्ड में प्रलय होता है। छठवें काल के अन्त में सवर्त नामक पवन पर्वत, वृक्ष, पृथ्वी आदि को चूर्णकर समस्त दिशा और क्षेत्र में भ्रमण करता है। इस पवन के कारण समस्त जीव मूर्च्छित हो जाते हैं। विजयार्द्ध की गुफा में रक्षित ७२ युगलों के अतिरिक्त समस्त प्राणियों का संहार हो जाता जाता है। इस काल के अन्त में पवन, अत्यन्त शीत, क्षार रस, विष, कठोर अग्नि धूलि और धुँआ की वर्षा एक-एक सप्ताह तक होती है। इसके पश्चात् उत्सर्पिणी काल का प्रवेश होता है अर्थात् छठवें काल के अन्त होने के ४९ दिन पश्चात् नवीन युग का आरम्भ होता है।

छठवें काल का अन्त आषाढ़ी पूर्णिमा को होता है, क्योंकि नवीन युग का आरम्भ श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को अभिजित् नक्षत्र में होता है, अतः आषाढी पूर्णिमा के अनन्तर श्रावणी प्रतिपदा से ४९ दिन की गणना की तो दूसरी समाप्ति भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी को हुई। अतएव भाद्रपद शुक्ला पंचमी उत्सर्पण और अवसर्प्पण के आरम्भ का दिन हुआ। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छहों कालों सुषमा सुषमा, सुषमा, सुषम दुःषमा, दुःषमा सुषमा, दुषमा और दुःषमा दुःषमा का अन्त सदा आषाढी पूर्णिमा को होता है। अतः सृष्ट्यादि भाद्रपद शुक्ला पञ्चमी का दिन है। इसी दिन की स्मृति

में यह पर्व आरम्भ हुआ है। इसकी आरम्भ तिथि भाद्रपद शुक्ला पंचमी है और समाप्ति तिथि भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी है। बीच में किसी तिथि की कमी हो जाने पर यह व्रत एक दिन पहले से किया जाता है। इसमें समाप्ति की तिथि चतुर्दशी ही नियामक है। यह व्रत एक वर्ष में तीन बार आता है, माघ, चैत्र, और भाद्रपद में प्रत्येक माह में शुक्लपक्ष की चतुर्थी को सयम कर पञ्चमी से व्रत किया जाता है तथा चतुर्दशी को उपवास पूर्ण कर पूर्णिमा को संयम के साथ समाप्त किया जाता है।

गुणों की आराधना

दशलक्षण पर्व के दिनों में क्रमशः उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन तथा उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म की आराधना, की जाती है। ये सभी आत्मा के धर्म हैं, क्योंकि इनका सीधा सम्बन्ध आत्मा के कोमल परिणामों से हैं। इस पर्व का यह वैशिष्ट्य है कि इसका सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष से न होकर आत्मा के गुणों से है। इस प्रकार यह गुणों की आराधना का पर्व है। इन गुणो से एक भी गुण की परिपूर्णता हो जाय तो मोक्ष तत्त्व की उपलब्धि होने में किञ्चित् भी सन्देह नहीं रह जाता है। १

पर्वाधिराज पर्यूषण

धर्माचरण के माध्यम से शान्तिप्रदायक पर्वों में पर्यूषण का शीर्ष स्थान है। इसीलिए इसे पर्वाधिराज की उपाधि से विभूषित किया जाता है। पर्यूषण की व्युत्पत्ति है, 'परि समन्तात् उषणं निवासः' अर्थात् व्यापकपने से सर्वत्र निवास करना, तीन लोक में व्याप्त आत्मशक्ति का प्रसार करना, प्राणी मात्र के साथ सहानुभूति से समभाव रखना तथा क्रोध, मान, माया, और लोभ आदि के विचारों का उपशमन कर निज स्वभाव में स्थिर होना।

---

१ डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री : व्रततिथिनिर्णय (प्रस्तावना) पृ. ३७–३६

इस पर्व को पर्यूषमन भी कहा जाता है, जिसका अर्थ होता है, 'मानसिक विचारों को पूर्णतया शांत करना।' पर्यूषण को संवत्सरी भी कहते हैं। संवत्सर का अर्थ वर्ष है। 'संवत्सर' शब्द से पर्व अर्थ में अण् प्रत्यय जोड़कर सांवत्सर की व्युत्पत्ति हुई है। वर्ष के अनन्तर सम्पन्न होने वाले पर्व को सांवत्सर कहते हैं। इसी के आधार पर इसे सांवत्सरी या संवत्सरी कहते हैं।

सृष्टि का पुनर्निर्माण

प्रलय के अनन्तर ४६ दिन तक सुवृष्टि होती है। इससे पृथ्वी की गर्मी शांत होती है और लता, वृक्ष वगैरह उगने लगते हैं। छिपे हुए मनुष्य युगल अपने-अपने स्थानों से निकल कर पृथ्वी पर बसने लगते हैं। इस तरह सृष्टि का पुनर्निर्माण होता है। मानव जाति ने सृष्टि की सुखद स्मृति के प्रतीक के रूप में पर्यूषण मनाना प्रारम्भ किया।

उभय परम्परा का पर्व

आगमानुसार पर्यूषण पर्व प्रतिवर्ष तीन बार आता है, किन्तु सामाजिक परम्परानुसार अधिकांश जैन एक बार भाद्रपद में ही मनाते हैं। श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में यह पर्व कुल १७ दिनों तक मनाया जाता है। श्वेताम्बर भाद्रकृष्ण त्रयोदशी से भाद्र-शुक्ल पंचमी तक आठ दिन तथा दिगम्बर भाद्रशुक्ल पंचमी से प्रारम्भ कर अनन्त चतुर्दशी तक १० दिन मनाते हैं। पर्यूषण पर्व के प्रत्येक अङ्ग का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित रूप में किया जाता है—

उत्तम क्षमा

क्षमा आत्मा का स्वभाव है। क्षमा पृथ्वी का नाम है। जिस प्रकार पृथ्वी तरह-तरह के बोझ को सहन करती है, इसी प्रकार चाहे कैसी भी विषम परिस्थिति आए, उसमें भी अपने मन को स्थिर रखना, अपने आपको क्रोध रूप परिणत न करना क्षमा है। क्रोध आत्मा का शत्रु है, इसके वशीभूत हुआ प्राणी अपने आपको भी भूल जाता है। इससे उसके सभी प्रयोजन नष्ट हो जाते हैं। कहा भी है –

अपराधिनि चेत्क्रोधः किं न कोपाय कुप्यसि ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्णां परिपन्थिनि ॥

अर्थात् यदि अपराधी व्यक्ति पर क्रोध है तो उस क्रोध पर ही क्यों नहीं क्रोधित होते हैं, जो कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी का विरोधी है।

क्षमावान् जीव यह भावना रखते हैं कि यह स्वेच्छाचारी लोक अपने हृदय में मुझे भला अथावा बुरा कुछ भी माने, किन्तु मैं तो रागादि दोषों को छोड़कर अपने उज्ज्वल ज्ञान में ही स्थित रहूँगा। उत्तम क्षमा के धारक पुरुष को मात्र अपने आत्मा की शुद्धि ही साध्य है। इस जगत् में अन्य मेरा बैरी हो अथवा मित्र हो, इससे मुझे क्या ? अथात् शत्रु या मित्र मेरा कुछ भी नहीं कर सकते। जो जैसा परिणाम करेगा, उसे उसका वैसा ही फल प्राप्त होगा १। मेरे दोषों को प्रकट करके ससार में दुर्जन सुखी हो, धन के लोभी मेरा सर्वस्व ग्रहण करके सुखी हो जाँय, शत्रु मेरा जीवन लेकर सुखी हों और जिसे जो स्थान लेना है वह स्थान लेकर सुखपूर्वक रहे तथा जो मध्यस्थ रहना चाहें, वे मध्यस्थ रहें। सारा संसार सुखपूर्वक रहे, किन्तु किसी भी जीव को मुझसे दुःख न पहुँचे, मैं ऐसी पुकार सबके समक्ष करता हूँ २।

उत्तम मार्दव धर्म – "मृदोभविः मार्दवम्" मृदुता का भाव रखना मार्दव है। मन, वचन, और काय से मृदु होना मार्दव अथवा मृदुता है।

---

१ तिष्ठामो वयमुज्ज्वलेन मनसा रागादिदोषोज्झिता ।
लोकः किञ्चिदपि स्वकीय हृदये स्वेच्छाचरो मन्यताम् ।
साध्यः शुद्धिरिहात्मनः शमवतामत्रापरेण द्विषा
मित्रेणापि किमु स्वचेष्टितफल स्वार्थः स्वयं लप्स्यते ॥
पद्मनन्दि पचविंशतिका–८४

२ दोषानाघुष्यलोके मम भवतुसुखी दुर्जनश्चेद्धनार्थी ।
मत्सर्वस्वं गृहीत्वा रिपुरथ सहसा जीवितं स्थानमन्यः ।
मध्यस्थस्त्वेवमेवाऽखिलमिह हि जगज्जायतां सौख्यराशिः
मत्तो मा भूदसौख्यं कथमपि भविनः कस्यचित्पूत्करोमि ॥ वही ८५

यदि मृदुता में त्रियोग में से किसी एक योग की भी वक्रता है तो वह मार्दव मायाचार है। मयूर पक्षी मधुर वाणी (केका) बोलता है, किन्तु मधुर स्वर सुनकर बिल से निकले हुए सर्प को खा जाता है। यह मार्दव कोमल परिणामशील न होने से मार्दव नहीं: मार्दव का मायाचार है। किसी समय संगीत से वनमृगों को बुलाया जाता था। और जब वे राग सुनने में तल्लीन हो जाते थे, उन्हें बाण मार दिये जाते थे। सर्प पकड़ने के लिए सपेरे आज भी पुंगी बजाते हैं। इसलिए परिणामों की कोमलता ही मार्दव हैं ※। परिणामों की कोमलता के लिए मान को त्याग देना चाहिए। जिस प्रकार बीज बोने के लिए जमीन पर हल चलाकर, उसे अच्छी तरह जोतकर तथा कूड़ा करकट से रहित कर साफ किया जाता है उसी प्रकार धर्म रूपी बीज का वपन करने के लिए सबसे पहले हमने क्षमा द्वारा जिस मन रूपी भूमि का कर्षण किया था उसी को मार्दव के द्वारा निर्मल किया। इस निर्मलता के द्वारा उत्तम चारित्र रूपी फल की उपलब्धि सुनिश्चित है।

मनुष्य में अभिमान का बीज होना ही उसके पतन का द्योतक है। अभिमानी मनुष्य मृदु नहीं होता, अपितु पत्थर की तरह कठोर होता है, उसके अन्दर दूसरे के प्रति सहानुभूति नहीं होती है मानवता उससे कोसों दूर भागती है। अतः मनुष्य जीवन विनम्रता से ही सफल होता है। संसार में करोड़ों भवों में हीन, मध्यम और उत्तम कुलों में जन्म लिया। किसी भी प्राणी की उत्पत्ति केवल एक ही जाति में होती हो, ऐसा नियम नहीं है, अपितु कर्म के वश ही प्राणी भ्रमण करता रहता है, किसी की भी कोई शाश्वत जाति नहीं है। अच्छे कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी रूप, बल, श्रुति मति, शील तथा वैभव से रहित देखे जाते हैं। अतः कुल के प्रति मान का परित्याग करना चाहिए। जिसका शील (चरित्र) अशुद्ध है, उसे कुल का मद करने से क्या लाभ है ? इसी प्रकार जो स्वकीय गुणों से अलङ्कृत है, उस शीलवान् को भी कुलमद से किञ्चित्प्रयोजन नहीं है ▒।

※ मुनिविद्यानन्द जी : उत्तम मार्दव (जैनदर्शन-२३ दिस, १९७४)

▒ प्रशमरतिप्रकरण ८१-८४

जो शुक्र और शोणित से उत्पन्न हुआ है, जिसमें सतत हानि वृद्धि होती रहती है, जो रोग और जरा का आश्रय है, जिसे प्रति दिन साफ करना पड़ता है, जो चमड़ा और मांस से आच्छादित है, कलुषतापूर्ण है तथा निश्चित रूप से विनाश स्वभाव वाला है ऐसे शरीर के रूप में मद का क्या कारण हो सकता है ? अर्थात् कोई कारण नहीं हो सकता। जो व्यक्ति आज बलवान् है, वही क्षण-भर में बलहीनता को प्राप्त हो जाता है, तथा जो बलहीन है, वही संस्कार के वश पुनः बलवान् हो जाता है, इस प्रकार बुद्धि के बल से बल का अनियतपना जानकर तथा मृत्युबल के सामने अपनी अबलता जानकर अपने बल का भी मद नहीं करना चाहिए। लाभ और अलाभ क्षणिक है, ये कर्म के उदय और उपशम के निमित्त से होते हैं, ऐसा जानकर न तो अलाभ में दुःखी होना चाहिए और न लाभ होने पर विस्मय करना चाहिए। ग्रहण, उद्ग्रहण (दूसरों को समझाना), नवीन रचना करना, निवारण तथा अर्थ का अवधारण करना, इत्यादि बुद्धि के अङ्गों का आगम में जो विधान है, उसके अनन्तपर्यायों की वृद्धि को लिए हुए भेदों में पूर्व महापुरुषों के सागर के समान महान् ज्ञान की अनन्तता को सुनकर आजकल के पुरुष अपनी बुद्धि का गर्व कैसे करते हैं ? अर्थात् पहले के लोगों के ज्ञान को ध्यान में रखकर हमें अपने तुच्छ ज्ञान का गर्व नहीं करना चाहिए १ ।

उत्तम आर्जव

'ऋजोर्भावः आर्जवम्' ऋजुता अर्थात्सरलता का नाम आर्जव है आर्जव का विपरीत माया है । जो प्राणी मन, वचन, काय से कुटिलता न रखता हो, वही आर्जव धर्म को पाल सकता है । कहा है—

मनस्येकं वचस्येकं वपुष्येकं महात्मनाम् ।
मनस्यन्यद्वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ॥

अर्थात् महात्माओं का कार्य मन, वचन और काय से एक होता है तथा दुरात्माओं के मन में कुछ और होता है, वचन में कुछ और बोलते हैं तथा कार्य में कुछ अन्य आचरण करते हैं।

---

१ प्रशमरतिप्रकरण- ८४-९२

दुनियाँ में जितने भी अनर्थ और पापकर्म होते हैं, वे सब आर्जव धर्म के अभाव में ही होते हैं । जो ऋजु होते हैं, उनके कर्म संस्कार क्षय होते हैं और जो कुटिल होते हैं, उनके कर्म संस्कार संचित रहते हैं । अत्यधिक छल से उपार्जन की हुई सम्पत्ति अधिक दिन तक स्थिर नहीं रहती है, केवल कर्मबन्ध होता है । चोर, डाकू आदि में कपट की मात्रा अधिक रहती है, लाखों की सम्पत्ति उनके पास आती हैं, किन्तु कभी भी उनका नगर बसा हुआ नहीं देखा गया है । जो व्यक्ति सरल स्वभावी होता है, उसके घर प्रभूत सम्पत्ति होती है । मायाचारी को दुनियाँ घृणित द्रष्टि से देखती है । हंस और बगुला लगभग एक से लगते हैं, किन्तु उन दोनों के स्वाभाव में बड़ा अन्तर होता है । यही कारण है कि हंस से लोग प्रेम करते हैं और बगुले से द्वेष करते हैं । आचार्य पद्मनन्दि देव ने कहा है–

मायित्वं कुरुते कृत सकृदपिच्छायाविघातं गुणे–
ष्वाजातेर्यमिनोऽर्जितेष्विह गुरुक्लेशैः शमादिष्वलम् ।
सर्वे तत्र यदासते विनिभृता क्रोधादयस्तत्त्वत
स्तत्पापवत येन दुर्गतिपथे जीवश्चिरं भ्राम्यति ।।९०।।

यदि एक बार भी मायाचारी की जाय तो वह बड़ी कठिनाई से संचित किए हुए मुनि के अहिंसादिक गुणों को ढक देती है और उस मायाचार रूपी मकान में क्रोधादि कषायें भी छिपी रहती हैं, उस मायाचार से उत्पन्न हुआ पाप जीव को अनेक प्रकार की दुर्गतियों में भ्रमण कराता है ।

पारमार्थिक द्रष्टि से विचार करने पर आत्मस्वभाव को विपरीत मानना ही सबसे बड़ी वक्रता है । ज्ञायकस्वभावी आत्मा की श्रद्धा और ज्ञान को स्थिर रखना धर्म है । जो अपने रागादि दोषों को दोष के रूप में नहीं जानता और उन्हें धर्म मानता है, वह वास्तव में मायाचारी है × ।

उत्तम शौच

'शुचेर्भावः शौचं' पवित्रता का भाव शौच है । पवित्रता लोभ–

× हरिलाल जैन : दशलक्षण धर्म पृ. ३५–३६

कषाय का अभाव होने पर प्रकट होती है। जो परस्त्री और परपदार्थों के प्रति निःस्पृह है, समस्त प्राणियों के प्रति जिसका चित्त अहिंसक है और जिसने दुर्मेध अन्तरङ्ग मल को धो लिया है ऐसा पवित्र हृदय ही उत्तम शौच है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई शौच धर्म नहीं है ※।

पवित्रता बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार की है। अपने अपने पद के अनुसार लौकिक शुद्धि का विचार रखना बाह्य शुद्धि है और अन्तरङ्ग में लोभादि कषायों का कम करना आभ्यन्तर शुद्धि है। गङ्गादि में स्नान करने से शरीर का मल छूट जाने के कारण लौकिक शुद्धि भले ही हो, किन्तु वास्तविक शुद्धि तो आत्मा में लोभादि कषायों को नष्ट करने से होती है १। महाभारत में अर्जुन के प्रति कहा गया है–

आत्मानदी सयम पुण्य तीर्था
सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र
न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥

अर्थात् आत्मा नदी है, संयम उसका पवित्र घाट है, सत्य रूपी उसमे जल भरा हुआ है, शील उसके तट हैं और उसमें दया रूपी तंरगें उछल रही हैं। अर्जुन! उसमें अभिषेक करो, जल से अन्तरात्मा शुद्धि नही होती है। स्वामी समन्तभद्र ने कहा है–

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ॥

अर्थात् तृष्णा रूपी ज्वालायें इस जीव को जला रही हैं। यह जीव इन्द्रियों के इष्ट विषय एकत्रित कर उनसे इन तृष्णा रूपी ज्वालाओं को शान्त करने का प्रयत्न करता है, पर उनसे इसकी शान्ति नहीं होती है, प्रत्युत् वृद्धि ही होती है। जिस प्रकार घी की आहुति से अग्नि की ज्वाला शान्त होने की अपेक्षा अत्यधिक प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार विषय सामग्री से तृष्णा रूपी ज्वाला अत्यधिक

※ यत्परदारार्थादिषु जन्तुषु निस्पृहमहिंसकं चेतः।
दुर्मेद्यान्तर्मल हृत्तदेव शौच परं नान्यत् ॥ पद्मनन्दि पंचविंशतिका-९४

१ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी : दशलक्षण धर्म पृ. २१

प्रज्वलित होती है, अतः उत्तम शौच धर्म का पालन कर तृष्णा का अभाव करना चाहिए।

उत्तम सत्य

'सद्भ्यो हितं सत्यम्' जो सज्जनों को हितकर हो, वह सत्य है। सत्य का अत्यधिक महत्त्व है। प्रायः प्रत्येक धर्म में किसी न किसी रूप में सत्य की प्रतिष्ठा की गई है। जैनधर्म में इसे पंच महाव्रत और पंचाणुव्रत में स्थान दिया गया है। असत्य भाषण पाप है, क्योंकि असत्य भाषण का मूल कषाय है और जहाँ कषाय है, वहाँ हिंसा होती ही है। अतएव असत्य भाषण में भी अवश्य हिंसा होती है १। अहिंसा के बाद सत्य का क्रम आता है। इसका तात्पर्य है, अहिंसा के द्वारा सत्य के द्वार पर पहुँचना। सत्य भगवान् है– 'तं सच्च खु भगवं ✱।' जैनधर्म आत्मा को सर्वोच्च उन्नत बनाने के लिए किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर की शरण न लेकर सत्य को ही भगवान् मानता है। अतएव मनुष्य जो भी साधना करे उसे सत्य को सामने रखकर ही उस साधना को करना चाहिए। सत्य के बिना धर्म निष्प्राण है।

जहाँ सत्य है, वहाँ छल कपट टिक नहीं सकता है। दुनियाँ भर की बुराइयाँ सत्य के सामने काँपने लगती हैं। कदाचित् अन्तःकारण की निर्बलता के कारण जीवन में मजबूती के साथ सत्य को न पकड़ा गया और वह निर्बल पड़ गया तो फिर बुराइयाँ खुलकर खेलने लगती हैं। जब जीवन के मैदान में सत्य सजग प्रहरी की भाँति डटा है, बुराइयाँ पास में फटकने का भी साहस नहीं कर सकती ▣। संसार की जितनी भी ताकतें हैं, वे कुछ दूर तक तो साथ देती है और उससे आगे जवाब दे जाती हैं, उस समय सत्य का ही बल हमारा आश्रय बनता है और वही एक मात्र काम आता है। जब मनुष्य मृत्यु की आखिरी घड़ियों में पहुँच

१ अनृतवचनेऽपि तस्यानियत हिंसा समवतरति ॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-९९
✱ प्रश्नव्याकरण सूत्र
▣ उपाध्याय अमरचन्द जी महाराज : सत्यदर्शन पृ. ३४

जाता है, तब उसे न धन बचा पाता है, न ऊँचा पद तथा परिवार ही। वह रोता रहता है और ये सब व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं, किन्तु कोई-कोई महान् आत्मा उस समय भी मुस्कराता हुआ जाता है, रोना नहीं जानता है, अपितु एक विलक्षण स्फूर्ति के साथ संसार से विदा होता है। उस समय संसार के सारे सम्बन्ध टूट जाते हैं, शरीर का एक टुकड़ा भी साथ नहीं जाता है, बुद्धि बल भी वहीं समाप्त हो जाता है फिर भी वह हँसता हुआ संसार से विदा होता है। सत्य का अलौकिक प्रकाश ही उसे बल प्रदान करता है १। इस प्रकार सत्य प्राणी की अमूल्य धरोहर है। अतः प्राणी को स्वपरहितकारी अमृत के समान मिष्टवचन बोलना चाहिए।

उत्तम संयम

संयम का अर्थ है– आत्मप्रवृत्तियों को रोकना। संयम आत्म साधना के आध्यात्मिक मार्ग में जितना आवश्यक और कल्याण-कारी है, उतना समाज एवं राजनीति में भी है। फिर भी परमार्थ द्रष्टि से जैसा संयम साधा जा सकता है, वैसा अन्य किसी भी उपाय से नहीं। शास्त्रकारों ने इसके दो भेद किए हैं (१) इन्द्रिय संयम (२) प्राणि संयम। छह इन्द्रिय और मन की प्रवृत्ति को वश में रखना इन्द्रिय संयम है और छह काय के जीवों की हिंसा से विरत रहना प्राणि संयम है। संयम एक अमूल्य रत्न है, विषय रूपी चोरों से इसकी सुरक्षा अत्यावश्यक है।

जीवन की आवश्यकतायें संयम की उतनी बाधक नहीं, जितनी भोग और ऐश्वर्य की आकांक्षायें हैं। जब तक लोग धनकुबेरों को महान् मानेंगे, तब तक जगत् की स्थिति निरापद रह नहीं सकती। आज से हजारों वर्ष पूर्व लोग धनियों की अपेक्षा संयमी पुरुषों को अधिक महान् मानते थे। यही कारण है कि उस समय के धनिक अभिमान और स्वार्थ की पराकाष्ठा पर नहीं पहुँच पाते थे और न जनसाधारण को अपने से तुच्छ और पददलित ही मानते थे। सबके दिलों में आपसी भ्रातृत्वभाव और सम्मान था, परन्तु आज की समूची

---

१ सत्यदर्शन १४–१५

परिपाटी ठीक उससे विपरीत है। जगह-जगह धनिक और निर्धनों के बीच संघर्ष हो रहे हैं। धनी ही महान् है, धन ही बड़प्पन का मानदण्ड है, यह दोष सब जगह देखा जा रहा है। संयमी पुरुष ही महान् है, इस बात को जब तक लोग नहीं समझ पाते हैं तब तक लालसा को कम करने का सिद्धान्त लोकदृष्टि में उपादेय नहीं हो सकेगा और जब तक लालसा कम न होगी, आवश्यकतायें बढ़ती रहेंगी। आवश्कताओं की वृद्धि में सुख की कमी रहेगी अतः सयम का अभ्यास करना चाहिए १।

सयम धर्म की समग्रता स्वर्ग, नरक और पशुगति में नहीं है। संयम का पूर्ण आचरण मनुष्य ही कर सकता है, अतः उसे समस्त प्राणियों पर करुणा भाव रखना चाहिए तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण चक्षु तथा श्रोत्र इन्द्रियों को वश में करना चाहिए।

उत्तम तप

सर्वार्थसिद्धि में तप की परिभाषा करते हुए कहा गया है— कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तपः अर्थात् कर्म के क्षय के लिए जो तपा जाता है, उसे तप कहते हैं। आचार्य पूज्यपाद तप्यते इति तपः भी कह सकते थे, किन्तु इस प्रकार के तप से बाह्य वैभव की उपलब्धि भले ही हो जाय, मोक्ष की उपलब्धि नहीं हो सकती। स्वामी समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया
तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते।
भवान् पुनर्जन्मजरा जिहासया
त्रयी प्रवृत्ति समधीरनारुणत्॥

हे भगवान्! कितने ही लोग सन्तान प्राप्त करने के लिए, कितने ही धन प्राप्त करने के लिए तथा कितने ही मरणोत्तर काल में प्राप्त होने वाले स्वर्गादि की तृष्णा से तपश्चरण करते हैं, परन्तु आप जन्म और जरा की बाधा का परित्याग करने की इच्छा से इष्टानिष्ट पदार्थों में मध्यस्थ हो मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को

१ आचार्य तुलसी : शान्ति के पथ पर पृ. ५२–५५

रोकते हैं। आचार्य पद्मनन्दि ने कर्ममल के विनाश के लिए सम्यग्-दर्शन और सम्यक्ज्ञान पूर्वक जो तपा जाता है, उसे तप कहा है १। इस प्रकार का तप संसार समुद्र से पार होने के लिए जहाज के समान है। सम्यग्ज्ञान रूपी द्रष्टि से वस्तु स्वरूप को जानकर उसमें लीन होने पर इच्छायें रुक जाती हैं, वह तप धर्म है, उससे कर्ममल का विनाश होता है।

'इच्छानिरोधस्तपः' अर्थात् इच्छाओं का निरोध तप है। इच्छायें अनन्त हैं। मनुष्य की एक इच्छा पूर्ण होती है और शीघ्र ही दूसरी इच्छा आ उपस्थित होती है। इस प्रकार इच्छाओं का अन्त नहीं आता। इसीलिए मनीषी आचार्यों ने कहा है कि इच्छाओं का दमन करो।

जैनधर्म में तप दो प्रकार का कहा है– (१) बाह्य तप (२) आभ्य-न्तर तप। बाह्य तप शरीर की बाह्य क्रियाओं से विशेष रूप से सम्बन्धित है और आभ्यन्तर तप का सम्बन्ध मन के विकारों का दमन करने से है। आभ्यन्तर तप मानसिक चित्तवृत्तियों को शान्त करता है। बाह्य तप आभ्यन्तर तप का साधन है। शरीर को कष्ट देना और उसका दमन करना तभी तक सार्थक है जब तक उसका उपयोग आध्यात्मिक शुद्धि के लिए होता है। इसके विप-रीत तप से केवल आभ्यन्तर कलुषता ही पैदा होती है तो वह तप नहीं, ताप है। इसलिए कहा है –

आतम अनातम के ज्ञानहीन जे जे करनी तन करन छीन ॥

आत्मा और अनात्मा के ज्ञान बिना जितनी भी क्रियायें की जाती हैं, वे केवल शरीर को ही क्षीण करने वाली हैं, उनसे आत्म-कल्याण नहीं होता। इसलिए सम्यक्ज्ञान पूर्वक जो तप किया जाता है, वह महान् फल का देने वाला होता है। शरीर को सुखाने वाली क्रियायें तो इस जीव ने अनन्त बार कीं, किन्तु ज्ञान का सच्चा सूर्य इसके अन्दर जाग्रत नहीं हुआ। ज्ञानी के अन्दर कर्मों

---

१ कर्ममलविलयहेतोर्बोधदृशा तप्यते तपः प्रोक्तम्।
तद्द्वेधा द्वादशधा जन्माम्बुधियानपात्रमिदम् ॥ पद्मनन्दि पंचविंश-तिका ९८

को नष्ट करने की अपूर्व क्षमता होती है। छहढालाकार ने कहा है –

कोटि जन्म तप तपैं ज्ञानबिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिन माँहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं जे ॥
मुनिव्रतधार अनन्त बार ग्रीवक उपजायौ।
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायौ ॥

अज्ञानी करोड़ों जन्म तप तपकर जिनकर्मों का क्षय करता है, ज्ञानी मन, वचन, और काय की प्रवृत्तियों को रोककर या उन्हें वश में कर क्षणमात्र में उन सब कर्मों को भस्म कर देता है। यह जीव मुनिव्रत धारण कर अनन्त बार नव ग्रैवेयक तक गया, किन्तु आत्मज्ञान बिना इसने लेशमात्र भी सुख नहीं पाया।

उत्तम त्याग

सम्यक् प्रकार से श्रुत का व्याख्यान करना और मुनि इत्यादि को पुस्तक, स्थान तथा पीछी, कमण्डलु आदि संयम के साधन देना सदाचारियों का उत्तम त्याग धर्म है। इसमें यह भावना होती है कि मेरा कुछ भी नहीं है। शरीरादि के प्रति फिर कुछ ममत्व भी नही रहता है। इस प्रकार उसमें अकिञ्चन्य धर्म का प्रकटीकरण होता है १। बारस अणुवेक्खा में कहा गया है-

णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्व दव्वेसु।
जो तस्स हवेच्चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ॥७८

जो समस्त द्रव्यों के प्रति मोह छोड़कर संसार, शरीर और भोगों के प्रति विरक्ति की भावना रखता है, उसके त्याग धर्म होता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

---

१ व्याख्या या क्रियते श्रुतस्य यतये यद्दीयते पुस्तकं।
स्थानं संयमसाधनादिकमपि प्रीत्या सदाचारिणा।
सत्यागो वपुषादि निर्ममतया नो किंचनास्ते यते
आकिञ्चन्यमिदं च संसृतिहरो धर्मः सतां सम्मतः ॥
पद्मनन्दि पंचविंशतिका १०१

त्याग और दान सामान्यतया एक ही अर्थ में ग्रहण किए जाते हैं, किन्तु यथार्थरूप से दान तो बाह्य वस्तु का किया जाता है और त्याग स्ववस्तु का किया जाता है । दान में प्रायः दूसरे के प्रति करुणाभाव होता है, त्याग में अपना विरक्ति भाव प्रधान होता है। परमार्थ द्रष्टि से देखा जाय तो त्याग किसी वस्तु का बनता ही नहीं है, क्योंकि जब कोई बाह्य वस्तु अपनी है ही नहीं तो त्याग किसका हो सकता है ? जो वस्तु हमारी नहीं है, उसे हमने मोह बुद्धि के कारण अपना मान रखा है, इसी के कारण हम भ्रमित हो संसार बन्धन का कष्ट उठा रहे हैं आचार्य पूज्यपाद ने कहा है–

मोहेन संवृतंज्ञानं स्वभावं लभते न हि ।
मत्तः पुमान्पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥

अर्थात् जिस प्रकार मदन कोद्रव से मत्त हुआ व्यक्ति पदार्थों की उपलब्धि करने में समर्थ नहीं होता है, उसी प्रकार मोह से जिसका ज्ञान आवृत है, वह व्यक्ति स्वभाव को प्राप्त नही कर सकता है । अतएव मोह छोड़कर त्याग धर्म का अवलम्बन श्रेयस्कर है ।

उत्तम आकिञ्चन्य

'आकिञ्चनस्य भावः आकिञ्चन्यं'– अकिंचनपने का भाव आकिञ्चन्य है। जिसके पास कुछ नही बचा, वह अकिंचन कहलाता है। परिग्रह का त्याग होने पर पूर्ण आकिञ्चन्य धर्म प्रकट होता है। पर पदार्थों के प्रति मूर्च्छा या आसक्तिभाव परिग्रह है । सम्यक् ज्ञान और वैराग्य के बल से निरन्तर परपदार्थों के प्रति आसक्ति कम करना चाहिए । आचार्य पूज्यपाद ने कहा है–

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभाः अपि ॥
यथा यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभाः अपि ।
तथा तथा समायति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥

अर्थात् जैसे जैसे ज्ञान में उत्तम तत्त्व प्रतिभासित होता है, वैसे वैसे सुलभ विषय भी रुचिकर नहीं लगते और जैसे जैसे सुलभ विषय

रुचिकर नहीं लगते, वैसे-वैसे अनुभव में उत्तम तत्त्व प्रकाशित होता है ।

ज्ञान की शक्ति और वैराग्य का बल दोनों एक ही साथ मोक्ष की सिद्धि करते हैं। जिस प्रकार नेत्र दो होते हैं, किन्तु दोनों नेत्रों से अवलोकन एक ही जैसा होता है । कविवर बनारसीदास ने कहा है–

ज्ञान सकति वैराग्य बल शिव साधैं समकाल ।
ज्यों लोचन न्यारे रहें निरखें दोऊ नाल ।।

आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि जिसके हृदय में परमाणु मात्र भी परद्रव्य के प्रति राग है, वह व्यक्ति भले ही सारे आगमों का ज्ञाता हो किन्तु वह आत्मा को भली प्रकार नहीं जानता है १ । यह व्यक्ति राग और द्वेष रूपी दो दीर्घ रस्सियों से खींचा जाता हुआ अत्यन्त चिरकाल तक ससार में भ्रमण करता रहता है २ । अतः सांसारिक पदार्थों के प्रति रागद्वेष का त्याग आवश्यक है । आचार्य समन्तभद्र ने कहा है–

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्त संज्ञानः ।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरण प्रतिपद्यते साधुः ।। रत्नकरण्डश्रावकाचार

मोहान्धकार नष्ट हो जाने पर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को प्राप्त साधु रागद्वेष की निवृत्ति के लिए चारित्र को प्राप्त होता है इस प्रकार मोह, राग तथा द्वेष की निवृत्ति आत्मोपलब्धि के लिए अत्यावश्यक है । यह निवृत्ति उत्तम आकिञ्चन्य धर्म प्रकट करने से होती है ।

उत्तम ब्रह्मचर्य

'ब्रह्मणि चरणं ब्रह्मचर्यं' अर्थात् आत्मा में विचरण करना, लीन होना ब्रह्मचर्य है । ब्रह्मचर्य सबसे बड़ा धर्म है। इसको पूर्णता चौदहवें

---

१ जस्स हिदयेऽणुमत्त वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो ।
सोणविजाणदि समयं सगस्स सव्वागम धरो वि ।

२ रागद्वेषद्वयी दीर्घ नेत्राकर्षणकर्मणा ।
अज्ञानात् सुचिरं जीवः भ्रमत्यतिचिरंभवे–इष्टोपदेश

गुणस्थान होती है । शील के अठारह हजार भेदों की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है, तथापि व्यवहार से स्त्री त्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं । इसके दो भेद है (१) एकदेश ब्रह्मचय (२) पूर्ण ब्रह्मचर्य अपनी स्त्री अथवा पुरुष मात्र में ही सन्तोष रखना एकदेश ब्रह्मचर्य है और स्वस्त्री तथा परस्त्री दोनों का त्याग कर देना पूर्ण ब्रह्मचर्य है । कामी व्यक्ति को शास्त्रकारों ने अन्धे की उपमा दी है । किसी ने कहा है-

दिवा पश्यति नो घूकः काको नक्तं न पश्यति ।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धः दिवा नक्तं न पश्यति ॥

उल्लू दिन में नहीं देखता है, कौआ रात्रि में नहीं देखता है, किन्तु कामान्ध व्यक्ति अपूर्व है जो कि न रात को देखता है, न दिन में देखता है । तात्पय यह कि कामी व्यक्ति की बुद्धि कुण्ठित और भ्रमित हो जाती है । भर्तृहरि ने कहा है-

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्तिशूराः ।
केचित् प्रचण्ड मृगराज वधेऽपि दक्षाः ॥
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य ।
कन्दपवदर्पदलने विरलाः मनुष्याः ॥

अर्थात् मतवाले हाथियों के गण्डस्थल का दलन करने वाले शूरवीर पृथ्वी पर हैं, कुछ प्रचण्ड सिंह का वध करने में भी समर्थ हैं, किन्तु मैं शक्तिशालियों के सामने हठात् कहता हूँ कि कामदेव के मद का दलन करने वाले मनुष्य विरले हैं।

ब्रह्मचर्य का पालन एक कठोर साधना है, घोर तप है । इसके लिए केवल शरीर पर ही नहीं, मन, वाणी और इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना पड़ता है । सबको आत्मकेन्द्रित करना पड़ता है । जब तक साधक अपने को आत्म साधना मे नहीं लगा देता है, तब तक ब्रह्मचर्य पूर्ण सफल नहीं होता है ।

दशलक्षण पर्व मनाने की विधि

दशलक्षण पर्व के मनाने की उत्तम विधि तो यह है क दिसों दिन उपवास किया जाय । यदि उपवास सम्भव न हो तो एकाशन अवश्य करना चाहिए । इन दिनों गरिष्ठ भोजन का परित्याग करना

चाहिए तथा निर्दोष विधि से आहार ग्रहण करना चाहिए। सारा समय धार्मिक कार्यों और आयोजनों में व्यतीत करना चाहिए। त्रिकाल सामायिक, वन्दना, प्रतिक्रमण, अभिषेक, पूजन, स्तवन, स्वाध्याय, रथयात्रा, धार्मिक संगोष्ठियों का आयोजन तथा लोकोपकारी कार्य करना इत्यादि इस व्रत के महत्त्वपूर्ण क्रिया कलाप हैं। इन दिनों प्रत्येक दिन क्रमशः एक एक धर्म का जाप्य करना चाहिए। जाप्य के मन्त्र इस प्रकार हैं—

(१) ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमक्षमा धर्माङ्गाय नमः।
(२) ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तममार्दवधर्माङ्गाय नमः।
(३) ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमार्जवधर्माङ्गाय नमः।
(४) ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमशौचधर्माङ्गाय नमः।
(५) ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमसत्यधर्माङ्गाय नमः।
(६) ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमसंयमधर्माङ्गाय नमः।
(७) ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमतपोधर्माङ्गाय नमः।
(८) ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमत्यागधर्माङ्गाय नमः।
(९) ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमाकिञ्चन्यधर्माङ्गाय नमः।
(१०) ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमब्रह्मचर्यधर्माङ्गाय नमः।

वर्तमान परम्परा

वर्तमान में भाद्रपदमास में पड़ने वाला दशलक्षण पर्व विशेष उत्साह से मनाया जाता है। इन दिनों समाज में पूजा, व्रत उपवास, भजन कीर्तन, प्रवचन इत्यादि कार्यक्रम विशेष रूप से हुआ करते हैं। प्रायः स्थानीय अथवा बाहर के विद्वानों के तत्त्वार्थसूत्र के एक-एक अध्याय पर तथा दस धर्मों में से एक एक-एक धर्म पर व्याख्यान होते हैं एवं सुविधानुसार प्रातः, मध्याह्न अथवा सायं काल शास्त्र प्रवचन का भी आयोजन किया जाता है। रात्रि में शिक्षाप्रद नाटक, कविसम्मेलन, गायन वगैरह का भी आयोजन किया जाता है। कहीं-कहीं पर शिक्षा का स्थान मनोरंजन ने ले लिया है, अतः इस प्रकार के सांस्कृतिक कार्यक्रम भी आयोजित किए जाने लगे हैं। जिनसे धर्म का दूर तक भी कोई सम्बन्ध नहीं है।

ऐसे आयोजन बन्द होने चाहिए, क्योंकि काम भोग और बन्ध की कथा तो इस जीव ने अनन्त बार सुनी है, अनुभूत की है, केवल आत्मा के एकत्व का अनुभव ही दुर्लभ है, जो कि इस पर्व का विशेष उद्देश्य है। पंचमी, अष्टमी, दशमी अथवा चतुर्दशी के दिन इस पर्व में रथयात्रा निकालने की विशेष प्रथा है। कई स्थानों पर भक्तामर स्तोत्र, छहढाला इत्यादि के अखण्ड पाठ का आयोजन भी किया जाता है। इन दिनों प्रायः सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं के आयव्यय का लेखा–जोखा प्रस्तुत किया जाता है एवं विभिन्न संस्थाओं के नवीन पदाधिकारियों का भी चुनाव होता है। इस व्रत को दस वर्ष तक पालन करने का विधान है, पश्चात् उद्यापन कर दिया जाता है। वर्तमान में रूढिवश अथवा श्रद्धावश अधिकांश लोग इसे प्रतिवर्ष मनाते हैं।

दशलक्षण व्रत कथा

धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में मेरु पर्वत की दक्षिण दिशा में सीतोदा नदी के तीरपर विशालाक्षा नामक पुरी थी। वहाँ पर राजा प्रीतिकर थे। उनकी रानी का नाम प्रियकारिणी थी। उन दोनों की पुत्री मृगाङ्करेखा थी। राजा का मन्त्रि मतिशेखर, राज–श्रेष्ठी गुणसागर तथा लक्षभद्र नामक कोतवाल था। इनकी स्त्रियों का नाम क्रमशः शशिप्रभा, सुभद्रा तथा शशिरेखा था। इनके क्रमशः कामसेना, मदनरेखा तथा रोहिणी कन्या हुई। इन कन्याओं की राज-कन्या से अत्यधिक मैत्री थी। एक वार ये सब सखियां वसन्तऋतु में वन में गई। वहाँ पर उन्होंने एक मुनिराज को देखा और उनसे कहा कि स्त्री पर्याय से छुटकारा कैसे मिलेगा ? मुनि ने कहा– कि दशलक्षण व्रत के करने से पर नरतन पाकर भवसागर से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। कन्याओं ने मुनिराज से दशलक्षण व्रत की विधि पूछी मुनिराज ने विधि बतलाई। तब चारों कन्याओं ने व्रत लिया और यथाशक्ति व्रत पूर्णकर उद्यापन कराया। अन्तिम समय में वे नमस्कार मन्त्र का जापकर समाधिमरण को प्राप्त हुई और दशवें स्वर्ग में उत्पन्न हुई। वहाँ उन्होंने सोलह सागर आयु प्राप्त की और नित्य धर्म का सेवन किया।

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में विशाल उज्जयिनी नगरी है। वहाँ का राजा स्थूलभद्र और रानी गुणवती थी। क्रम से वे चारों देव, रानी के उदर से उत्पन्न हुए। उनके नाम क्रमश: देवप्रभ, गुणचन्द्र पद्मप्रभ तथा पद्मसारथी था। यौवनावस्था प्राप्त होने पर उन्होंने निष्कलप्रभ राजा की क्रमश: ब्राह्मी, कुमारी, रूपवती तथा मृगनेत्री नामक कन्याओं से परिणय किया। कुछ दिनों बाद राजा को वैराग्य हो गया। उसने मुनिव्रत धारणकर केवल-ज्ञान प्राप्त किया। चारों भाई सुख से राज्य करने लगे। एक दिन उन्होंने विरक्त हो सब राजपाट त्याग दिया तथा वन में जाकर तपस्या कर समस्त घातिया कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया। अन्त में अघातिया कर्मों का नाशकर वे शिवपथ के पथिक बने। इसी प्रकार प्रत्येक भव्यजीव को दशलक्षण धर्म धारण कर मोक्ष प्राप्त करना चाहिए।



अनासक्ति

—पं० रामनारायण दत्त, पाण्डेय

अलकें किसी मंजु सुहागिन की
जिसे नागिन सी डँस जाती नहीं।
लड़ चंचल आँखें सुदूर ही से
उर भवन में आग लगाती नहीं॥
अधरों की कभी वह हाला जिसे
मधु प्याला बनी ललचाती नहीं।
परवाह उसे भव कूप की क्या
जिसे रूप की ज्वाला जलाती नहीं॥

श्रुत पंचमी पर्व

प्रतिवर्ष ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को जैन समाज में श्रुतपंचमी पर्व मनाया जाता है। इस पर्व को मनाने के पीछे एक इतिहास है, जो निम्नलिखित है–

श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र के मुख से श्री इन्द्रभूति (गौतम) गणधर ने श्रुत को धारण किया। उनसे सुधर्माचार्य ने और उनसे जम्बू नामक अन्तिम केवली ने ग्रहण किया। भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद इनका काल ६२ वर्ष है। पश्चात् १०० वर्ष में १- विष्णु २-नन्दिमित्र ३- अपराजित ४- गोवर्धन और ५- भद्रबाहु ये पाँच आचार्य पूर्ण द्वादशाङ्ग के ज्ञाता श्रुतकेवली हुए। तदनन्तर ग्यारह अङ्ग और दश पूर्वों के वेत्ता ये ग्यारह आचार्य हुए– १– विशाखाचार्य २– प्रोष्ठिल ३– क्षत्रिय ४– जय ५– नाग ६– सिद्धार्थ ७– धृतिसेन ८– विजय ९– बुद्धिल १०– गंगदेव और ११– धर्मसेन। इनका काल १८३ वर्ष है। तत्पश्चात् १- नक्षत्र, २- जयपाल, ३- पाण्डु, ४- ध्रुवसेन और ५- कंस ये पाँच आचार्य ग्यारह अङ्गों के धारक हुए। इनका काल २२० वर्ष है। तदनन्तर १- सुभद्र २- यशोभद्र ३- यशोबाहु और ४- लोहार्य ये चार आचार्य एकमात्र आचाराङ्ग के धारक हुए। इनका समय ११८ वर्ष है। इसके पश्चात् अङ्ग और पूर्ववेत्ताओं की परम्परा समाप्त हो गई और सभी अङ्गों और पूर्वों के एकदेश का ज्ञान आचार्य परम्परा से धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ। ये दूसरे अग्रायणी पूर्व के अन्तर्गत चौथे महाकर्म प्रकृति प्राभृत के विशिष्ट ज्ञाता थे। श्रुतावतार की यह परम्परा धवला टीका के रचियता स्वामी आचार्य वीरसेन के अनुसार है। नन्दिसंघ की जो प्राकृत पट्टावली उपलब्ध है, उसके अनुसार भी श्रुतावतार का यही क्रम है। केवल आचार्यों के कुछ नामों में अन्तर है। फिर भी मोटे तौर पर उपर्युक्त कालगणना के अनुसार भगवान् महावीर के निर्वाण से ६२+१००+१८३+२२० +११८=६८३ वर्षों के व्यतीत होने पर आचार्य धरसेन हुए, ऐसा स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है। नन्दिसंघ को पट्टावली के अनुसार धरसेना-

आचार्य का काल वीर निर्वाण से ६१४ वर्ष पश्चात् जान पड़ता है १।

आचार्य धरसेन अष्टाङ्ग महानिमित्त के ज्ञाता थे। जिस प्रकार दीपक से दीपक जलाने की परम्परा चालू रहती है, उसी प्रकार आचार्य धरसेन तक भगवान् महावीर की देशना आंशिक रूप में पूर्ववत् धाराप्रवाह रूप से चली आ रही थी। आचार्य धरसेन काठियावाड में स्थित गिरिनगर (गिरिनार पर्वत) की चन्द्र गुफा में रहते थे। जब वे बहुत वृद्ध हो गए और अपना जीवन अत्यन्त अवशिष्ट देखा, तब उन्हें यह चिन्ता हुई कि अवसर्पिणी काल के प्रभाव से श्रुतज्ञान का दिन प्रतिदिन ह्रास होता जाता है। इस समय मुझे जो कुछ श्रुतप्राप्त है, उतना भी आज किसी को नहीं है, यदि मैं अपना श्रुत दूसरे को नहीं दे सका तो यह भी मेरे ही साथ समाप्त हो जायेगा। उस समय देशेन्द्र नामक देश में वेणाकतटीपुर में महामहिमा के अवसर पर विशाल मुनि समुदाय विराजमान था। श्री धरसेनाचार्य ने एक ब्रह्मचारी के हाथ वहाँ मुनियों के पास एक पत्र भेजा। उसमें लिखा था।

"स्वस्ति श्रीमत इत्यूर्जयन्त तटनिकट चन्द्रगुहा—
वासाद् धरसेनगणी वेणाकतट समुदितयतीन ॥
अभिवन्द्य कार्यमेवं निगदत्यस्माकमायुरवशिष्टम् ।
स्वल्प तस्मादस्मच्छ्रुतस्य शास्त्रस्य व्युच्छित्ति: ॥
न स्यात्तथा तथा द्वौ यतीश्वरौ ग्रहण धारण समर्थौ ।
निशितप्रज्ञौ यूयं प्रस्थापयत........................ ॥"

'स्वस्ति श्रीमान् ऊर्जयन्त तट के निकट स्थित चन्द्रगुहावास से धरसेनाचार्य वेणाक तट पर स्थित मुनिसमूहों को वन्दना करके इस प्रकार से कार्य को कहते है कि हमारी आयु अब अल्प ही अवशिष्ट रही है। इसलिए हमारे श्रुतज्ञानरूप शास्त्र का व्युच्छेद जिस प्रकार से न हो जावे उसी तरह से आप लोग तीक्ष्ण बुद्धि वाले श्रुत को ग्रहण और धारण करने में समर्थ दो यतीश्वरों को मेरे पास भेजो।"

---

१ षट्खण्डागम (पं० हीरालाल शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना पृ, १)

मुनि संघ ने आचार्य धरसेन के श्रुतरक्षा सम्बन्धी अभिप्राय को जानकर दो मुनियों को गिरिनगर भेजा । वे मुनि विद्याग्रहण करने में तथा उसका स्मरण रखने में समर्थ थे. अत्यन्त विनयी तथा शीलवान् थे, उनके देश, कुल और जाति शुद्ध थे और वे समस्त कलाओं में पारङ्गत थे । जब वे दो मुनि गिरिनगर की ओर आ रहे थे तब यहाँ श्री धरसेनाचार्य ने ऐसा शुभ स्वप्न देखा कि दो श्वेत वृषभ आकर उन्हें विनयपूर्वक वन्दना कर रहे हैं। उस स्वप्न से उन्होंने जान लिया कि आने वाले दोनों मुनि विनयवान एवं धर्मधुरा को वहन करने में समर्थ हैं । उनके मुँह से 'जयउगुयदेवदा' ऐसे आशीर्वादात्मक वचन निकाले । दूसरे दिन दोनों मुनिवर आ पहुँचे और विनयपूर्वक उन्होंने आचार्य के चरणों में वन्दना की । दो दिन पश्चात् श्री धरसेनाचार्य ने उनकी परीक्षा की । एक को अधिक अक्षरों वाला और दूसरे को हीन अक्षरों वाला विद्यामन्त्र देकर दो उपवास सहित उसे साधने को कहा । ये दोनों गुरु के द्वारा दी गई विद्या को लेकर और उनकी आज्ञा से श्री नेमिनाथ तीर्थंकर की सिद्धभूमि पर जाकर नियमपूर्वक अपनी अपनी विद्या की साधना करने लगे । जब उनकी विद्या सिद्ध हो गई तब वहाँ पर उनके सामने दो देवियाँ आईं । उनमें से एक देवी के एक ही आँख थी और दूसरी देवी के दाँत बडे-बड़े थे ।

मुनियों ने जब सामने देवियों को देखा तो जान लिया कि मन्त्रों में कोई त्रुटि है, क्योंकि देव विकृताङ्ग नहीं होते हैं । तब व्याकरण की दृष्टि से उन्होंने मन्त्र पर विचार किया । जिसके सामने एक आँख वाली देवी आई थी उन्होंने अपने मन्त्र में एक वर्ण कम पाया तथा जिसके सामने लम्बे दाँतों वाली देवी आई थी उन्होंने अपने मन्त्र में एक वर्ण अधिक पाया । दोनों ने अपने-अपने मन्त्रों को शुद्ध कर पुन: अनुष्ठान किया, जिसके फलस्वरूप देवियाँ अपने यथार्थ स्वरूप में प्रकट हुई तथा बोलीं कि हे नाथ ! आज्ञा दीजिए ! हम आपका क्या कार्य करें ? दोनों मुनियों ने कहा– देवियों ! हमारा कुछ भी कार्य नहीं है । हमने तो केवल गुरुदेव की आज्ञा से ही विद्यामन्त्र की आराधना की है । यह सुनकर वे देवियाँ अपने स्थान को चली गईं ।

मुनियों की इस कुशलता से गुरु ने जान लिया कि सिद्धान्त का अध्ययन करने के लिए वे योग्य पात्र हैं। आचार्य श्री ने उन्हें सिद्धान्त का अध्ययन कराया। वह अध्ययन अषाढ़ शुक्ला एकादशी के दिन पूर्ण हुआ। उस दिन देवों ने दोनों मुनियों की पूजा। एक मुनिराज के दाँतों की विषमता दूर कर देवों ने उनके दाँत कुन्दपुष्प के समान सुन्दर करके उनका 'पुष्पदन्त' यह नामकरण किया तथा दूसरे मुनिराज को भी भूत जाति के देवों ने तूर्यनाद, जयघोष, गन्धमाला, धूप आदि से पूजा कर 'भूतबलि' नाम से घोषित किया।

अनन्तर श्री धरसेनाचार्य ने विचार किया कि मेरी मृत्यु का समय निकट है। इन दोनों को संक्लेश न हो, यह सोचकर वचनों द्वारा योग्य उपदेश देकर दूसरे ही दिन वहाँ से कुरीश्वर देश की ओर विहार करा दिया। यद्यपि वे दोनों ही साधु गुरु के चरण सान्निध्य में कुछ अधिक समय तक रहना चाहते थे, तथापि 'गुरु के वचन अनुल्लङ्घनीय हैं,' ऐसा विचार कर वे उसी दिन वहाँ से चल दिए और अकलेश्वर (गुजरात) में आकर उन्होंने वर्षाकाल बिताया। वर्षाकाल व्यतीत कर पुष्पदन्त आचार्य तो अपने भानजे जिनपालित के साथ वनवास देश को चले गए और भूतबलि भट्टारक द्रविड़ देश को चले गए।

पुष्पदन्त मुनिराज अपने भानजे को पढ़ाने के लिए महाकर्म प्रकृति प्राभृत' का छह खण्डों में उपसंहार करना चाहते थे अतः उन्होंने बीस अधिकार गर्भित सत्प्ररूपणा सूत्रों को बनाकर शिष्यों को पढ़ाया और भूतबलि मुनि का अभिप्राय जानने के लिए जिनपालित को यह ग्रन्थ देकर उनके पास भेज दिया। इस रचना को और पुष्पदन्त मुनि के षट्खण्डागम रचना के अभिप्राय को जानकर एवं उनकी आयु भी अल्प है, ऐसा समझकर श्री भूतबलि आचार्य ने 'द्रव्यप्ररूपणा' आदि अधिकारों को बनाया। इस तरह पूर्व के सूत्रों सहित छह हजार श्लोक प्रमाण में इन्होंने पाँच खण्ड बनाये और तीस हजार प्रमाण सूत्रों में महाबन्ध नाम का छठा खण्ड बनाया। छह खण्डों के नाम हैं– जीवस्थान, क्षुद्रक बन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदना खण्ड, वर्गणाखण्ड, और महाबन्ध

भूतबलि आचार्य ने इस षट्खण्डगम सूत्रों को पुस्तक बद्ध किया और ज्येष्ठ सुदीपचमी के दिन चतुर्विध संघ सहित कृतिकर्मपूर्वक महापूजा की। इसी दिन से इस पचमी का 'श्रुतपचमी' नाम प्रसिद्ध हो गया और तब से लेकर लोग श्रुतपचमी के दिन श्रुत की पूजा करते आ रहे हैं। पुनः भूतबलि ने जिनपालित को षट्खण्डागम ग्रन्थ देकर पुष्पदन्त मुनि के पास भेजा। उन्होंने अपने चिन्तित कार्य को पूरा हुआ देखकर महान हर्ष किया और श्रुत के अनुराग से चातुवर्ण संघ के मध्य महापूजा की।

षट्खण्डागम यथानाम छह खण्डों की रचना है। ये छः खण्ड इस प्रकार है– १- जीवस्थान २- खुद्दाबन्ध (क्षुद्रबन्ध) ३- बन्धस्वामित्वविचय ४- वेदना ५- वर्गणा और ६- महाबन्ध। आचार्य पुष्पदन्त ने समस्त सत् प्ररूपणा के बीस अधिकार रचे, इसके पश्चात् समस्त ग्रन्थ आचार्य भूतबलि द्वारा रचा गया।

१. जीव स्थान

इस खण्ड में गुणस्थान और मार्गणास्थानों का आश्रय लेकर सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगद्वारों से तथा प्रकृति समुत्कीर्त्तना, स्थान समुत्कीर्त्तना, तीन महा दण्डक, जघन्यस्थिति' उत्कृष्ट स्थिति, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति आगति इन नौ चूलिकाओं के द्वारा जीव की विविध अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। रागद्वेष और मिथ्यात्व भाव को मोह कहते हैं। मन, वचन, काय, के निमित्त से आत्मप्रदेशों के चंचल होने को योग कहते हैं। इन्ही मोह और योग के निमित्त से दर्शन, ज्ञान, चरित्र रूप आत्मगुणों की विकासक्रम रूप अवस्थाओं को गुण स्थान कहते हैं। वे गुणस्थान चौदह हैं- १- मिथ्यात्व २- सासादन ३- मिश्र ४- अविरत सम्यग्द्रष्टि ५- देश संयत ६- प्रमत्त सयत ७- अप्रमत्त संयत ८- अपूर्वकरण सयत ९- अनिवृत्तिकरण संयत १०- सूक्ष्मसांपराय संयत ११- उपशान्तमोह छद्मस्थ १२- क्षीणमोह छद्मस्थ १३- संयोग केवली १४- अयोगकेवली।

२. खुद्दाबन्ध

इसमें कर्मबन्धक के रूप में जीव की प्ररूपणा इन ग्यारह

अनुयोगद्वारों द्वारा की गई है- १, एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व २- एक जीव की अपेक्षा काल ३- एक जीव की अपेक्षा अन्तर ४- नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय ५- द्रव्य प्रमाणानुगम ६- क्षेत्रानुगम ७- स्पर्शनानुगम ८- नाना जीवों की अपेक्षा काल ९- नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर १०- भागाभागानुगम और ११- अल्पबहुत्वानुगम । इन अनुयोगद्वारों के प्रारम्भ में भूमिका के रूप में बन्ध के सत्व की प्ररूपणा की गई है, और अन्त में सभी अनुयोगद्वारों की चूलिका रूप से अल्पबहुत्व महादण्डक दिया गया है ।

३. बन्धस्वामित्वविचय

इस खण्ड में कर्मों की विभिन्न प्रकृतियों के बन्ध करने वाले स्वामियों का विचय अर्थात् विचार किया गया है ।

४. वेदनाखण्ड

इसमें छह अनुयोग द्वारों में वेदना नामक दूसरे अनुयोग का विस्तार से वर्णन किया गया है ।

५. वर्गणाखण्ड

महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के २४ अनुयोगद्वारों में स्पर्श, कर्म और प्रकृति ये तीन अनुयोगद्वार स्वतन्त्र हैं और भूतबलि आचार्य ने इनका स्वतन्त्र रूप से ही वर्णन किया है तथापि छठे बन्धन अनुयोगद्वार के अन्तर्गत बन्धनीय का अवलम्बन लेकर पुद्गल वर्गणाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है और आगे के अनुयोगद्वारों का वर्णन आचार्य भूतबलि ने नही किया है. इसलिए स्पर्श अनुयोगद्वार से लेकर बन्धन अनुयोगद्वार तक का वर्णित अंश वर्गणाखण्ड नाम से प्रसिद्ध हुआ।

६. महाबन्ध

षट्खण्डागम के दूसरे खण्ड में कर्मबन्ध का संक्षेप से वर्णन किया गया है, अतः उसका नाम खुद्दाबन्ध या क्षुद्रबन्ध प्रसिद्ध हुआ, किन्तु छठे खण्ड में बन्ध के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप चारों प्रकार के बन्धों का अनेक अनुयोग द्वारों से विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है, इसलिए इसका नाम महाबन्ध रखा गया ।

षट्खण्डागम के टीकाकार

विक्रम की ९ वीं शताब्दी और शक सवत् की ८ वीं शताब्दी में आचार्य वीरसेन जैनदर्शन के दिग्गज विद्वान् आचाय थे। षट्खण्डागम ग्रन्थ की रचना के आठ सौ वर्ष बाद आप ही एक ऐसे अद्वितीय आचार्य हुए हैं कि षट्खण्डागम पर धवला नामक टीका लिखकर एक अद्वितीय कार्य किया। यह टीका बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण है तथा सैंकड़ों वर्षों से मूडबिद्री में ताडपत्रों पर लिखी हुई सुरक्षित है। कषाय प्राभृत के रचयिता गुणधर स्वामी हैं। यतिवृषभस्वामी ने चूर्णि-सूत्रों द्वारा उसे स्पष्ट किया है। आचार्य वीरसेन के गुरु का नाम एलाचार्य था। उनके पास ही उन्होंने सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन किया था। कषाय पाहुड की जयधवला टीका लिखने के पश्चात् वे स्वर्गस्थ हो गए, तब उनके अनन्यतम शिष्य जिनसेन ने ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखकर एक अनुपम उदाहरण जगत के समक्ष रखा। अपने गुरु वीरसेनाचार्य की महिमा बतलाते हुए जिनसेन स्वामी ने कहा है कि षट्खण्डागम में उनकी वाणी अस्खलित रूप से प्रवर्तती थी। उनकी सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञा को देखकर किसी भी बुद्धिमान् को सर्वज्ञ की सत्ता में शंका नहीं रही थी। वीरसेन स्वामी की धवलाटीका ने षट्खण्डागम सूत्रों को चमका दिया। जिन-सेन ने उन्हें कवियों का चक्रवर्ती तथा अपने आपके द्वारा परलोक का विजेता कहा है।

नन्दिसघ की पट्टावली के अनुसार भगवान् महावीर की २९ वीं पीढ़ी में अर्हद्बलि मुनिराज हुए। तीसवीं पीढ़ी में माघनन्दी मुनि-राज हुए। माघनन्दी स्वामी के दो शिष्य थे- १- जिनसेन २- धरसेना जिनसेन स्वामी के शिष्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य और धरसेन स्वामी के शिष्य श्री पुष्पदन्त और भूतबलि थे। इस हिसाब से धरसेन स्वामी तीर्थंकर वर्द्धमान की ३१ वीं पीढ़ी में हुए और कुन्दकुन्द स्वामी तथा पुष्पदन्त भूतवलि आचार्य ३२ वीं पीढ़ी में हुए, इसलिए धरसेन स्वामी आचार्य कुन्दकुन्द के काकागुरु होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द तथा पुष्प-दन्त एवं भूतबलि आचार्य गुरुभाई होते हैं। षट्खण्डागम सूत्र पर जो अनेकों टीकायें रची गई हैं, उनमें सबसे पहली टीका परिकर्म है।

उस परिकर्म की रचना कौण्डकौण्डपुर में श्री पद्मनन्दि मुनि (आचार्य कुन्दकुन्द) ने की थी । षट्खण्डागम के छह खण्डों में से प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नामक बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका ग्रन्थ की रचना उन्होंने की । धवल - जयधवल टीका में बीरसेन स्वामी ने अपने कथन की पुष्टि के लिए कितने ही स्थानों पर परिकर्म के कथन का उल्लेख किया है । षट्खण्डागम में छह खण्ड हैं, उनमें छठे खण्ड का नाम महाबन्ध है, इसकी टीका खूब विस्तृत है और वही महाधवल के रूप में प्रसिद्ध है । इस महाबन्ध की भी ताड़पत्रपर लिखी हुई प्रति मूड़बिद्री के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है ।

षट्खण्डागम और कषायप्राभृत दोनों सिद्धान्तग्रन्थों पर अनेकों टीकायें रची गई हैं, जिनमें षट्खण्डागम की धवला टीका, कषाय प्राभृत के चूर्णिसूत्र एव जयधवला टीका तथा महाबन्ध पर महाधवला नामक टीका उपलब्ध है, अन्य टीकायें उपलब्ध नहीं हैं । इन टीकाओं का विवरण निम्नलिखित है—

टीका के नाम	आचाय	श्लोक प्रमाण	शताब्दी
परिकर्म	आचार्य कुन्दकुन्द	१२०००	द्वितीय शताब्दी
पद्धति	" शामकुण्ड	१२०००	तृतीय "
चूडामणि	" तुम्बुलुराचार्य	९१०००	चौथी "
———	" तार्किक समंतभद्राचार्य	४८००५	पंचम "
व्याख्याप्रज्ञप्ति	" बप्पदेव गुरु	८०००	षष्ठ "
धवला	आचार्य वीरसेन	७२०००	आठवीं "
महाधवला	श्रीजिनसेनआचार्य	×××	नवमी "

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्खण्डागम ग्रन्थ की रचना कर ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन चतुर्विध संघ के साथ उसकी पूजा की थी, जिससे श्रुतपंचमी तिथि दिगम्बर जैनों में प्रख्यात हो गई । ज्ञान की आराधना का यह महान् पर्व हमें वीतरागी सन्तों की वाणी की आराधना और प्रभावना

का सन्देश देता है। इस दिन धवल, महाधवलादि ग्रन्थों को विराजमान कर महामहोत्सव के साथ उनकी पूजा करना चाहिए। श्रुत-पूजा के साथ सिद्धभक्ति और शान्तिभक्ति का भी इस दिन पाठ करना चाहिए। विशेष विधान करना हो तो निम्न मन्त्र की १०८ आहुतियाँ देना चाहिए–

"ॐ अर्हन्मुखकमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि श्रुतज्ञानज्वालासहस्र प्रज्वलिते सरस्वति अस्माकं पाप हन हन दह दह कां कीं कूं कौं कः क्षीरवरधवले अमृतसम्भवे व व हं हं फट् स्वाहा।"



षोडश कारण पर्व

प्रतिवर्ष षोडश कारण पर्व भाद्रकृष्ण प्रतिपदा को प्रारम्भ होता है और अश्विन कृष्ण प्रतिपदा को इसकी समाप्ति होती है। इस प्रकार यह पर्व सामान्यतया ३१ दिन का होता है। बलात्कारगण के आचार्यो का तो यहाँ तक कहना है कि यदि कभी तिथिहानि हो तो यह व्रत एक दिन पहले और तिथिवृद्धि हो तो एक दिन पश्चात् करना चाहिए। अन्य आचार्य तिथिहानि और तिथिवृद्धि को ध्यान मे नही रखते। उनकी द्रष्टि में व्रत का प्रारम्भ प्रतिपदा को ही होना चाहिए और प्रतिपदा तक ही करना चाहिए। इस पर्व में षोडश कारण भावनाओं का चिन्तन किया जाता है। शास्त्रों में १६ भावनायें कहीं गई है। इन सोलह भावनाओं से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। इन सोलह भावनाओं का विवेचन इस प्रकार है–

१. दर्शनविशुद्धि

जिनोपदिष्ट मोक्षमार्ग में रुचि सम्यग्दर्शन है। दर्शन विशुद्धि शब्द का शाब्दिक अर्थ है– विशुद्ध विश्वास। जिसे ठीक–ठीक दिखाई दे गया, वहा पक्का विश्वासी बन ही जायेगा। वह पतित समाज के लिए वैसा ही सिद्ध होगा, जैसे कुधातु के लिए सुधातु यानी लोहे

के लिए पारस मणि (१)। जिसका विश्वास विशुद्ध नहीं, उसके ऊपर मिथ्यात्व अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेगा और वह व्यक्ति किसी कार्य को वैसा ही करेगा, जैसे गाढ अन्धकार के बीच कोई व्यक्ति किसी कार्य को करे अथवा भूताविष्ट व्यक्ति विविध प्रकार की क्रियाओं को सम्पन्न करे। उसका मन निरन्तर संयम में पड़ा रहेगा और जिस प्रकार शरीर में चुभा हुआ काँटा रह रहकर कष्ट देता है, उसी प्रकार संशय भी उसे कष्ट देगा (२)। दर्शनविशुद्धि के आठ अङ्ग होते हैं-

१. निःशङ्कितत्व २. निःकाङ्क्षता ३. निर्विचिकित्सता ४. अमूढ-द्रष्टिता ५. उपबृंहण ६. स्थितीकरण ७. वात्सल्य ८. प्रभावना।

निःशङ्कितत्व

तत्त्व यही है, दूसरा नहीं है, इस प्रकार सन्मार्ग में तलवार के पानी के समान अचल-शङ्कारहित श्रद्धा होना निःशंकितत्व है (३)। आचार्य अकलङ्कदेव के अनुसार इहलोक, परलोक, व्याधि, मरण, अगुप्ति, अत्राण, और आकस्मिक इस प्रकार सात भयों से रहित होना तथा अर्हन्त भगवान् के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन में 'यह ऐसा है, अथवा नहीं है ? इस प्रकार की शङ्का का न होना निःशङ्कितत्व है (४)।

निःकाङ्क्षता

इस लोक और परलोक में विषयोपभोग की आकांक्षा नहीं करना और अन्य मिथ्याद्रष्टि सम्बन्धी आकांक्षाओं का निरास करना निःकाङ्क्षता है ५। सासारिक सुख कर्मों के आधीन है, उसका नाश

---

१ महात्मा भगवानदीन : षोडश कारण भावना पृ. १

२ केषाञ्चिदन्धतमसायते गृहीतं ग्रहायतेऽन्येषां।
मिथ्यात्वमिह ग्रहीतं शल्यति सांशयिकमपरेषाम् ॥ सागारधर्मामृत।

३ इदमेवेद्रशं चैव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशयारुचिः ॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार-११

४ तत्त्वार्थवार्तिक-६।२४।१

५ वही

हो जाता है, दुःखों से उसमें तरह-तरह की बाधाये आती रहती हैं तथा वह पाप का बीज है। इस प्रकार के सांसारिक सुख में आस्था नहीं रखना, सच्चा श्रद्धान रखना निःकाङ्क्षता है ६।

निर्विचिकित्सता

शरीर को अत्यन्त अपवित्र मानकर उसमें पवित्रता के मिथ्या संकल्प को छोड़ देना अथवा अर्हन्त भगवान् के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन में 'यह अयुक्त है, घोर कष्ट है, यह सब नही बनता' आदि प्रकार की अशुभ भावनाओं से चित्त को मलिन न करना निर्विचिकित्सा है ७। जो शरीर स्वभाव से अपवित्र है, वह रत्नत्रय धारी जीव के संसर्ग से पवित्र माना जाता है। इस प्रकार के शरीर में ग्लानि का न होना, गुण के प्रति अनुराग रखना निर्विचिकित्सता है ८।

अमूढ़द्रष्टिता

दुःखों के मार्गरूप कुमार्ग में और कुमार्ग में स्थित मिथ्या-द्रष्टिओं से मन से सहमत न होना, शरीर से सामिल नहीं होना और वचन से प्रशंसा नही करना अमूढद्रष्टि अङ्ग कहा जाता है ९।

उपवृंहण

उत्तम क्षमादि भावना के द्वारा अपने (आत्मा के) धर्म की परिवृद्धि करना उपवृंहण है १०। आचार्य समन्तभद्र ने इसे उपगूहन नाम दिया है। उनके अनुसार स्वयं शुद्ध मार्ग की अज्ञानी

---

६ कर्मपरवशे सान्तेदुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता।। रत्नकरण्डश्रा.—१२

७ तत्त्वार्थवार्तिक ६।२४।१

८ स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ।। रत्नकरण्ड श्रा.-१३

९ कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।
असम्पृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढाद्रष्टिरुच्यते ।। रत्नकरण्ड श्रा. १४

१० तत्त्वार्थवार्तिक ६।२४।१

या असमर्थ मनुष्यों के द्वारा की हुई निन्दा को दूर करना उपगूहन है ११।

स्थितिकरण

सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र तथा सम्यग्ज्ञान से विचलित हुए पुरुषों को यदि धर्मप्रेमी जन पुनः उसी मार्ग में स्थिर कर दें तो उसे स्थितिकरण कहा जाता है १२। यह स्थितिकरण अपने लिए भी होता है। कषायादि धर्म से भ्रष्ट करने के कारण उपस्थित होने पर भी अपने आपको धर्म से च्युत न करना स्थितिकरण है १३।

वात्सल्य

अपने सहधर्मी मनुष्यों का सद्भवपूर्वक कपट रहित यथायोग्य आदर सत्कार करना वात्सल्य है १४। अथवा जिनप्रणीत धर्मरूपी अमृत के प्रति नित्य अनुराग रखना वात्सल्य है १५।

प्रभावना

अज्ञान रूपी अन्धकार के विस्तार को शक्ति के अनुसार दूर कर जिनेन्द्र भगवान् के धर्म का प्रकाश करना प्रभावना है १६। अथवा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप रत्नत्रय के प्रभाव से आत्मा को प्रकाशित करना प्रभावना है।

जिस प्रकार कम अक्षरों वाला मन्त्र विष की वेदना को नष्ट नहीं कर सकता, उसी प्रकार निःशंकितादि अङ्गों से रहित सम्यग्दर्शन जन्म रूप संसार परम्परा को नष्ट नहीं कर सकता १७।

---

११ समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रा. १।१५
१२ वहीं-१६
१३ तत्त्वार्थवार्तिक ६।२४।१
१४ रत्नकरण्ड श्रा. १।१७
१५ तत्त्वार्थवार्तिक ६।२४।१
१६ रत्नकरण्ड श्रा. १।१८
१७ वही १।१९

२. विनयसम्पन्नता

कुल, रूप, वचन, यौवन, धन, मित्र, ऐश्वर्य और मनुष्यों की सम्पदायें ये सब विनय और प्रशम भाव के बिना वैसी ही शोभायमान नहीं होती हैं, जैसे जल रहित नदी सुशोभित नहीं होती है १। मध्यस्थता– उदासीनता को प्रशम कहते हैं। जिस प्रकार हंस सारस, चकवा वगैरह के झुण्डों से घिरी हुई भी नदी यदि निर्जल हो तो सुन्दर नही लगती, केवल एक लम्बा गड्ढा सा दिखलाई पड़ने के कारण भयानक लगती है, वैसे ही अन्य सम्पदाओं से भरा पूरा होने पर भी यदि मनुष्य विनयी नहीं हो तो सुन्दर नहीं लगता है। अकलङ्कदेव ने कहा है– सम्यग्ज्ञानादि मोक्ष के साधन तथा सम्यग्ज्ञान के निमित्त गुरु आदि का योग्यरीति से आदर आदि करना तथा कषाय की निवृत्ति करना विनयसम्पन्नता है २। 'गृणन्ति प्रतिपादयन्ति शास्त्रार्थमिति गुरवः' अर्थात् जो शास्त्र के अर्थ का कथन करते हैं, उन्हें गुरु कहते हैं। सूत्रों के पढने और उनके अर्थ को सुनने में प्रवृत्त होना, कालग्रहण, स्वाध्याय आदि शास्त्र के आरम्भ कहे जाते हैं। ये सभी आरम्भ गुरु की कृपा पर निर्भर हैं, अतः हित चाहने वाले को गुरु की आराधना में तत्पर रहना चाहिए ३। जिस प्रकार सरस चन्दन को लगाने से जीव की दाह मिट जाती है, वैसे ही गुरु के स्नेहयुक्त हितकारी वचनों को सुनकर भव्यजीवों का अहित रूपी सन्ताप मिट जाता है ४। जो अविनयी है वे गुरुओं, विद्वानों और साधु पुरुषों का अनादर करते हैं और

---

१ कुलरूप वचन यौवन धन मित्रैश्वर्य सम्पदपि पुंसाम्।
विनय प्रशम विहीना न शोभते निर्जलेव नदी ॥ प्रशमरतिप्रकरण–६७

२ सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षसाधनेषु तत्साधनेषु गुर्वादिषु च स्वयोग्यवृत्त्या सत्कारः आदरः कषायनिवृत्तिर्वा विनयसम्पन्नता। तत्त्वार्थवार्तिक ६।२४।२

३ गुर्वायत्ता यस्माच्छास्त्रारम्भा भवन्ति सर्वेऽपि।
तस्माद् गुर्वाराधनपरेण हितकांक्षिणा भाव्यम् ॥ प्रशमरतिप्रकरण- ६९

४ वही – ७० २२ वही– ७५

त्रुटिरेणु (झरोखों के द्वारा आने वाली सूर्य किरणों के प्रकाश में दिखाई देने वाले धूलि के कण) के बराबर विषयों में आसक्त होकर अजर अमर मुक्तात्मा के समान निर्भय हो जाते हैं ।

३. शीलव्रतेषु अनतिचार

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इत्यादि व्रत तथा उनके परिपालन क्रोध का त्याग करना आदि शीलों में काय वचन और मन की निर्दोष प्रवृत्ति शील व्रतेष्वनतिचार है १। शील बहुत व्यापक शब्द हैं, इसमें अनेक गुणों का समावेश होता है । जो मनुष्य शील का पालन करता है वह अपनी और दूसरे की अनेक आपत्तियों पर विजय प्राप्त करता है और अपनी आत्मा के परिणामों को निर्मल बनाता है ।

४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग

जीवादि पदार्थों को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जानने वाले मति आदि पाँच ज्ञान हैं। अज्ञान निवृत्ति इनका साक्षात् फल हैं। तथा हितप्राप्ति अहितपरिहार और उपेक्षा व्यवहित फल हैं । इस ज्ञान की भावना में सदा तत्पर रहना अभीक्षणज्ञानोपयोग है २ । जो व्यक्ति निरन्तर मन में ज्ञानाभ्यास करता है, उसके हृदय में मोह रूपी महान् अन्धकार निवास नहीं करता है। मोह रूपी अन्धकार के नष्ट होने पर सम्यग्दर्शन के पाने पर सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लेने वाला साधु पुरुष राग और द्वेष को दूर करने के लिए चारित्र को धारण करता है ३। राग और द्वेष के त्याग से हिंसा आदि पाप अपने आप छूट जाते हैं ४। क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता है ।

---

१ अहिंसादिषु व्रतेषु तत्परिपालनार्थेषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या वृत्तिः कायवाङ्मनसां शीलव्रतेष्वनतिचार इति कथ्यते ॥ तत्त्वार्थ-वार्तिक– ६।२४।३

२ वही– ६।२४।४

३ मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्त संज्ञानः ।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार-४७

४ वही– ४८

५. संवेग

संसार के दुःखों से नित्य डरते रहना संवेग है जो व्यक्ति संवेग की भावना का विस्तार करता है, वह स्वर्ग और मुक्ति पद का स्वतः साक्षात्कार करता है।

६. शक्तितः त्याग

दूसरे की प्रीति के लिए अपनी शक्ति के अनुसार स्वकीय वस्तु को देना त्याग है। दान देने से मन में विशेष प्रकार का हर्ष होता है। इससे इस लोक में यश होता है और परलोक में सुख की प्राप्ति होती है। आहार देने से पात्र को उस दिन प्रीति होती है। अभयदान से उस भव का दुःख छूटता है, अतः पात्र को सन्तोष होता है। ज्ञान-दान अनेक सहस्र भवों के दुःख से छुटकारा दिलाने वाला है। विधि-पूर्वक इन तीनों प्रकार के दानों का देना त्याग कहलाता है १।

७. शक्तितः तप

अपनी शक्ति को न छिपाकर सम्यक् मार्ग के अविरोधी विशुद्ध कायक्लेश को करना शक्तितः तप है २। तप की सबसे सुन्दर परि-भाषा इच्छाओं का निरोध करना है, क्योंकि इच्छाओं के निरोध के बिना किसी प्रकार का तप करना तप नहीं, ताप है।

८. साधु समाधि

जैसे भण्डार में आग लगने पर वह प्रयत्नपूर्वक शान्त की जाती है, उसी प्रकार (अनेक आपत्तियों के आने पर भी) तप का संरक्षण करना साधु समाधि है ३।

९. वैयावृत्य

गुणवान् व्यक्तियों पर आए हुए दुःखों को निर्दोष विधि से हटा

---

१ तत्त्वार्थवार्तिक ६।२४।६

२ अनिगूहित वीर्यस्य सम्यग्मार्गाविरोधतः।
कायक्लेशः समाख्यातं विशुद्धं शक्तितस्तपः॥ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-६।२४।९

३ भाण्डागाराग्नि संशान्तिसमं मुनिगणस्य यत्।
तपः संरक्षण साधुसमाधिः स उदीरितः॥ वही ६।२४।१०

देना वैयावृत्य है (१)।

१०. अर्हद्भक्ति

कर्म रूपी शत्रुओं का जिन्होंने विनाश कर दिया है, वे जीवन्मुक्त पुरुष अरिहन्त कहलाते हैं, इनके प्रति भक्ति रखना अर्हद्भक्ति है यह अकेली जिनभक्ति ही प्राणियों की दुर्गति का निवारण करने वाली, पुण्य का संचय करने वाली और मोक्षलक्ष्मी को देने वाली है।

११. आचार्य भक्ति

जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र की अधिकता से प्रधान पद को प्राप्त होकर संघ के नायक हुए हैं। पुनः जो मुख्यरूप से तो निर्विकल्प स्वरूप के आचरण में ही मग्न रहते है किन्तु कदाचित् धर्म के लोभी अन्य जीवादि को देखकर राग के अंश के उदय से करुणा बुद्धि होकर उन्हें उपदेश देते हैं, जो दीक्षा ग्राहक हैं, उन्हें उपदेश देते हैं, जो अपने दोष प्रकट करते हैं, उनको प्रायश्चित देकर शुद्ध करते हैं, (२) ऐसे साधु आचार्य कहलाते हैं। प्रशमरतिप्रकरण टीका के अनुसार जो दर्शनाचार, ज्ञानाचार, वीर्याचार, चारित्राचार और तपाचार इन पाँच आचारों का स्वयं आचरण करते हैं और दूसरों को उनका उपदेश देते हैं। वे आचार्य हैं, ये परम आर्ष के प्रवचनों का अर्थ करने में निपुण होते हैं (३)। अर्थात् जिनागम के ज्ञाता और कुशल व्याख्याता होते हैं। इन आचार्यों के प्रति भक्ति रखना आचार्य भक्ति है। यद्यपि इस कलिकाल में त्रैलोक्य के चूडामणि केवली भगवान् नहीं हैं, तो भी इस भरत क्षेत्र मे समस्त जगत् को प्रकाशित करने वाली उनकी वाणी विद्यमान है तथा श्रेष्ठ रत्नत्रय को धारण करने वाले मुनि

---

१ गुणिदुःखनिपाते तु निरवद्य विधानतः
तस्यापहरणं प्रोक्तं वैयावृत्यमनिन्दित ॥ वही ६।२४।११

२ पं० टोडरमल जी : मोक्षमार्गप्रकाशक पृ. ५

३ पञ्चविधाचारस्तथास्तदुपदेशदानादाचार्यः परमार्षवचनार्थनिरूपणे निपुणाः ॥ प्रशमरतिप्रकरण टीका पृ. ३

राज हैं। उनका आश्रय लेना चाहिए। उनकी पूजा जिनवाणी की ही पूजा है और जिनवाणी को पूजा से साक्षात् जिन की ही पूजा की समझना चाहिए (१)।

१२. बहुश्रुतभक्ति

अत्यधिक ज्ञान के धारक साधुओं के प्रति भक्ति रखना बहुश्रुत भक्ति है। ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान के बल से कर्मों का क्षय करता है। अज्ञानी कोटि सहस्र भवों में जितने कर्मों की निर्जरा करता है, उतनी निर्जरा ज्ञानी त्रिगुप्ति द्वारा एक स्वास मात्र काल में कर लेता है। इस प्रकार ज्ञानी की अत्यधिक महत्ता है। ज्ञान अर्थात् विवेक पूर्वक किया गया आचरण सफल होता है। ज्ञानी आत्मा बन्ध के स्वभाव को जानता है और अपने स्वभाव को भी जानता है। ऐसा जानता हुआ जो बन्ध से विरक्त होता है, वह कर्मों का क्षय करता है।

१३. प्रवचन भक्ति

जिनवाणी की भक्ति करना प्रवचन भक्ति है। सर्वज्ञ जिनेश्वर की दिव्यवाणी औषधिरूप है, वह विषय सुखों का परित्याग कराती है, वह अमृतमय-मरणरहित अवस्था का प्रदान कराती है, अमृत सदृश मधुर भी है, वह जन्म, मरण तथा व्याधि का विनाश करती है। जिनवाणी के द्वारा सर्वदुःखों का क्षय होता है (२)। अतः तीर्थंकर के द्वारा अर्थरूप से प्रतिपादित, गणधर देव द्वारा ग्रन्थरूप मे निर्मित अनुपम श्रुतज्ञान की निर्मल भावपूर्वक प्रतिदिन भावना करना चाहिए कि वह श्रुतज्ञान हमें प्राप्त हो (३)।

---

१ सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्य चूडामणिः।
तद्वाक् परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिका ॥
सद्रत्नत्रयधारिणो मुनिवरास्तेषां समालम्बनम्।
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ॥ पद्मनन्दिपंचविंशतिका

२ जिणवयण मोसहमिणं विसयसुहविरेयण अमियभूय।
जरमरण वाहिहरण खयकरण सव्वदुक्खाण ॥ कुन्दकुन्दः दर्शनपाहुड-१७

३ तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहिं गथियं सम्मं।
भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं ॥ भावपाहुड — ९०

१४. आवश्यकापरिहाणि

सामायिक, चतुर्विशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक क्रियाओं को यथाकाल अविच्छिन्न रूप से करते रहना आवश्यकापरिहाणि है। समस्त पापों का त्याग करना तथा चित्त को एकाग्र रूप से ज्ञान में लगाना सामायिक है। तीर्थंकरों की *शुद्धिपूर्वक खड्गासन या पद्मासन से चार बार शिरोनति* और बारह आवर्त पूर्वक वन्दना होती है। कृत दोषों की निवृत्ति प्रतिक्रमण है। भविष्य में दोष न होने देने के लिए सन्नद्ध होना प्रत्याख्यान है निश्चित समय तक शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है (१)।

१५. मार्ग प्रभावना

ज्ञान, तप तथा अर्हत्पूजानादि कार्यो से शुद्ध बुद्ध परमात्माओं के धर्म का परमार्थतः (यथार्थ रूप से) प्रकाशन करना मार्ग प्रभावना है (२)।

१६. प्रवचनवत्सलत्व

जिस प्रकार गाय अपने बछड़े पर स्नेह रखती है, उसी प्रकार देव शास्त्र, गुरु पर असीम श्रद्धा और स्नेह रखना प्रवचनवत्सलत्व है।

षोडश कारण व्रत कथा

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के मगध देश में राजगृह नगर था। उस नगर में राजा हेमप्रभ और रानी विजयावती राज्य करते थे। उनके यहाँ महाशर्मा नामक ब्राह्मण सेवक था। उस सेवक की स्त्री का नाम प्रियवदा था। इस प्रियंवदा की कुक्षि से कालभैरवी नामक एक अत्यन्त कुरूपा कन्या उत्पन्न हुई। इस कन्या से सभी घृणा करते थे। एक बार मतिसागर नामक मुनि आकाश मार्ग से गमन करते हुए उस नगर में आए। महाशर्मा ने उन्हें विधिपूर्वक आहार दिया। आहारदान के पश्चात् उन्होंने अपनी पुत्री की कुरूपता का कारण मुनिराज से पूछा — मुनिराज ने कहा कि पूर्वजन्म में यह उज्जयिनी नगरी के

---

१ अकलङ्कदेव : तत्त्वार्थवार्तिक ६।२४।११

२ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ६।२४।१५

राजा महीपाल और रानी वेगवती की रूपवती और अभिमानी विशालाक्षी नामक कन्या थी। इसने रूप के मद में गर्वित हो एक बार एक दिगम्बर मुनिराज के ऊपर थूक दिया, जिससे इस जन्म में यह इतनी कुरूपा हुई है। महाशर्मा ने उनकी कुरूपता और दुःख के निवारण का उपाय पूछा। मुनिराज ने कहा कि संसार में कोई ऐसा पाप नहीं, जिसका प्रायश्चित्त न हो। यदि यह कन्या षोडशकारण भावना भावे तो उसे इस दुःख से छुटकारा मिल सकता है। मुनिराज द्वारा निर्दिष्ट विधि से कन्या ने सोलह वर्ष तक षोडशकारण भावनाओं का चिन्तन करते हुए व्रत किया। अनन्तर विधिपूर्वक व्रत का उद्यापन किया। आयु के अन्त में समाधिमरण कर वह सोलहवें स्वर्ग में देव हुई और उसने उस व्रत के प्रभाव से विदेहक्षेत्र में सीमन्धर तीर्थंकर का पद प्राप्त किया। इस प्रकार यह व्रत स्वर्ग और मोक्ष के सुखों का देने वाला है, इसका पालन अवश्य करना चाहिए।



पंचकल्याणक महोत्सव

कल्याणक शब्द का अर्थ है- कल्याण करने वाला। वे क्रियायें जो किसी भी रूप में साक्षात् या परम्परा से जीव का ऐहलौकिक या पारलौकिक कल्याण करती है, कल्याणक शब्द से व्यवहृत होती है। मोक्ष के कारणों में प्रधान सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग माने गए हैं। उनमें प्रभावना नामक अन्तिम अङ्ग है जो जैनों में समय पर होने वाले अनेक धार्मिक समारोहों के रूप में प्रकट होता है। जिसके द्वारा जैनाजैन सभी वर्गों में धर्म के प्रतिरुचि, आकर्षण और श्रद्धा जागृत होती है। यही रुचि और श्रद्धान क्रमशः उत्कर्ष को प्राप्त होती हुई संवेग, वैराग्य के रूप में परिणत होकर मोक्ष में बदल जाती है। जीव का चरम लक्ष्य उसे प्राप्त हो जाता है और ऐसे समारोहों का कल्याणक नाम सार्थक होता है (१)

१ वैद्य पं. धर्मचन्द्र जैन शास्त्री : पंचकल्याणक का महत्त्व
(श्री सुदर्शनमेरु बिम्ब प्रतिष्ठा स्मारिका पृ. ७०)

पञ्चकल्याणक तीर्थंकर भगवान् के गर्भ में आने से लेकर मोक्ष जाने पर्यन्त विशिष्ट समारोहों के रूप में मनुष्य व देवताओं द्वारा यथासमय मनाये जाते हैं। ये कल्याणक इनके तीर्थंकर नामक सर्वातिशायी पुण्य प्रकृति के उदय से ही होते हैं, क्योंकि सामान्य केवलियों के वह नहीं होते। पंचकल्याणक तीर्थंकरों के ही होते है (१)। ये पाँच निम्न हैं–१, गर्भ कल्याणक २. जन्म कल्याणक ३. तप कल्याणक ४, ज्ञान कल्याणक ५. मोक्ष कल्याणक। इन कल्याणकों के ही अनुकरण पर प्रतिवर्ष जैन समाज में अनेक स्थानों पर पंचकल्याणक महोत्सव मनाने की परम्परा है। इन महोत्सवों में हजारों लाखों जैनाजैन जनता उपस्थित होती है और विविध धार्मिक आयोजनों के साथ पचकल्याणक की क्रिया स्टेज पर दर्शकों को दिखलाई जाती है। पचकल्याणक की ही क्रिया के साथ नई मूर्तियाँ प्रतिष्ठित होती है और पूजनीय मानी जाती हैं। इन कल्याणकों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है।

गर्भ कल्याणक

तीर्थंकर भगवान् के गर्भ में आने से पूर्व इन्द्र की आज्ञा से कुबेर माता पिता के गृहाङ्गण में दिव्य रत्नों की वर्षा करता है। श्री, ह्री धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये छह कुमारी आदि देवियाँ माता की सेवा के लिए उपस्थित होती हैं। पुण्योदय से माता सोलह स्वप्न देखती हैं। वे प्रातः उठकर अपने पति से स्वप्नों का फल पूछती है। पति बतलाते हैं कि तुम्हारे गर्भ से तीनों लोकों के नाथ तीर्थंकर भगवान् का जन्म होने वाला है। माता यह बात सुनकर अत्यधिक हर्षित होती है। तीनों लोकों में आनन्द छा जाता है।

जन्म कल्याणक

जन्म कल्याणक में जन्म के पूर्व ही कुबेर नगरी की रचना और सजावट करता है। भगवान् जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि नामक तीन ज्ञान के धारक होते हैं। उनके जन्म के समय कल्पवासी देवों के महलों में अनाहत घण्टों की आवाज होती है, ज्योतिषी देवों के

१ वही पृ. ७०

घर सिंहनाद होता है ? भवनवासी देवों के भवनों में बिना बजाए शंख बजते है, व्यन्तरों के भवनों में अपने आप भेरियों का शब्द होता है। सौधर्मेन्द्र ऐरावत हाथी पर बैठकर समस्त देव सेना के साथ भगवान् के जन्माभिषेक के लिए आता है । नगर की तीन प्रदक्षिणा देकर वह इन्द्राणी को प्रसूतिगृह से श्री जिनेन्द्र को लाने की आज्ञा देता है । इन्द्राणी भगवान् को प्रसूतिगृह से लाती है । इन्द्र उनके रूप को देखकर तृप्त नही होता है, वह हजार आँखे बनाता है । देव अनेक प्रकार से आनन्द मनाते हैं । जैसे—

१– नृत्य करना ।
२– तालियाँ बजाना ।
३– सेना को उन्नत बनाना ।
४– सिंहनाद करना ।
५– विक्रिया से अनेक वेष बनाना ।
६– उत्कृष्ट गाना, गाना ।

सौधर्मेन्द्र भगवान् को गोदी मे बैठाता है । अन्य देव चमर आदि ग्रहण करते है । सर्वप्रथम इन्द्रादि देवता सुदर्शन मेरु की प्रदक्षिणा देते है तथा सुमेरु पर्वत के शिखर पर स्थित पाण्डुक शिला पर सिंहासन पर विराजमान करके सौधर्मेन्द्र और ईशान इन्द्र शिशु का एक हजार आठ स्वर्णकलशों से अभिषेक करते है ।

सनत्कुमार और महेन्द्र इन्द्र चँवर ढोरते है । बाकी स्वर्गों के इन्द्र जय जयकार कर अपना हर्ष प्रकट कर स्वयं को धन्य व कृत-कृत्य मानते है । भगवान् को इन्द्रादि देव वस्त्राभूषण पहिनाते हैं । इस अवसर पर देवों द्वारा की गई क्रियाओं के कुछ रूप निम्नलिखित हैं–

१– तुम्बरु नारद और विश्वावसु का उत्कृष्ट मूर्च्छनाये करते हुए अपनी पत्नियों के साथ मन और कानों को हरण करने वाले गीत गाना ।

२– लक्ष्मी का वीणा बजाना ।

३– उत्तमोत्तम देवों का गायन, वादन और नृत्य करना ।

४– देवियों का गन्ध से युक्त अनुलेपन से भगवान् को उद्वर्तन करना ।

५ - भगवान् के शरीर को उत्तमोत्तम वस्त्राभूषणों तथा विलेपनों से सज्जित करना ।

उपस्थित जनसमुदाय रङ्गमञ्च पर इस जन्म महोत्सव को देख कर महान पुण्य संचय करते हैं। इस दिन भगवान् को पालने मे बैठाकर झूला झुलाया जाता है। इसी के प्रतीक स्वरूप प्रतिदिन पूजन के पहले भगवान् का अभिषेक किया जाता है। भक्त लोग इस समय यह कल्पना करते हैं कि जिस अमल पाण्डुक शिला पर ऋषभदेव इत्यादि तीर्थंकरों को इन्द्रादि देवताओं ने विराजमान कर स्नान कराया, उसी पर मैं भी सिंहासन पर जिनप्रतिमा को अधिष्ठित कर अक्षत् जल और पुष्पो से अर्चित करता हूँ। इसका कारण यह है कि भगवान् ने जिस कल्याण को प्राप्त किया। उस कल्याण की प्राप्ति का मै भी इच्छुक हूँ । दूर से झुकते हुए सुरनाथों के मुकुटो के अग्रभाग पर स्थित रत्नों की किरणों से जिनके चरणों की छवि धूसरित हो गई है, ऐसे भगवान् जिनेन्द्र यद्यपि स्वेद, ताप और मल से रहित है तथापि मैं प्रकृष्ट भक्ति से जिनपति का जलों से अनेक प्रकार से अभिषेक कर रहा हूँ । हे भगवान् ! आपके स्नान का यह गन्धोदक मुक्तिलक्ष्मी रूपी स्त्री के हाथ का उदक है, पुण्य रूपी अंकुर का उत्पन्न करने वाला है । यह नागेन्द्र, देवेन्द्र चक्रवर्ती इत्यादि पदों पर अभिषिक्त कराने वाला है। यह सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् दर्शन रूपी लता की वृद्धि करने वाला है तथा कीर्ति, लक्ष्मी और विजय का साधक है ।

जन्मोत्सव के पश्चात् कुछ तीर्थंकरों को छोडकर सभी तीर्थंकर सामान्य गृहस्थ जीवन विताते हुए सुदीर्घकाल तक साम्राज्य इत्यादि के सुख को भोगते हैं। यहाँ कोई तर्क कर सकता है कि जन्म तो जगत् की जन्म मरण परम्परा का एक अंग है, यह कल्याणक कैसे हो सकता है ? प्राणियों के जन्मपूर्वक मरण और मरणपूर्वक जन्म अनादि काल से होता आया है । इसका समाधान यह है कि तीर्थंकरों ने अपने ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र रूप आत्म पुरुषार्थ से जन्ममरण

की परम्परा के विच्छेद का प्रयास किया है। उसके फलस्वरूप यह अन्तिम जन्म है, इसके बाद पुन. जन्म नहीं होना है। अन्य प्राणियों का जन्म पुनर्जन्म तथा संसार की दुःख परम्परा का कारण है, अतः वह जन्म कल्याणक नहीं है। विवेकी मनुष्य प्रार्थना करते हैं—

पुनरपिजनन पुनरपि मरणं. पुनरपि जननी जठरे शयनम्।
इह संसारे खलु दुस्तारे कृपया पारे याहि कृपालो ॥

तीर्थंकर के जन्म समय में शरीर, प्रकृति, आकाश, भूमण्डल और मानव समाज में शान्तवातावरण एवं रमणीय तथा सुखप्रद परिवर्तन हो जाता है। उनका जन्माभिषेक, तिलककरण, वस्त्राभूषण धारण, विवाह, राज्याभिषेक आदि कार्य लोकहितकारी होते हैं। वे जल में कमल की तरह विषयों से निर्लिप्त रहते हैं, उनकी आत्मा में विकार भाव उत्पन्न नही होता। प्रत्येक मानव को इस प्रकार विषय निर्लिप्त श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने में ही कल्याण समझना चाहिए (१)।

दीक्षा कल्याणक

तीर्थंकर स्वयं बुद्ध होते हैं, वे किसी विद्वान् से शिक्षा या उपदेश ग्रहण नहीं करते तथापि किसी निमित्तविशेष को प्राप्तकर आत्म कल्याण के लिए दीक्षा धारण करते हैं। उस समय सारस्वत आदि देव अर्थात् लौकान्तिक देव ब्रह्म स्वर्ग से आकर उनके विचारों की बहुत भारी प्रशसा तथा पुष्टि करते हैं। जिस प्रकार लोग देखते तो अपने नेत्र से हैं, किन्तु सूर्य उसमें सहायक हो जाता है उसी प्रकार भगवान् यद्यपि स्वयंबुद्ध होते हैं तथापि लौकान्तिक देवों का कहना उनके यथार्थ अवलोकन में सहायक बन जाता है। देव उनका दीक्षा कल्याणक सम्बन्धी महाभिषेक करते हैं। अनन्तर उत्तम पालकी पर सवार हो भगवान् घर से निकलकर उद्यानादि रमणीय स्थान पर पहुंचते हैं। उनकी पालकी को सर्वप्रथम मनुष्य उठाते हैं। अनन्तर विद्याधर उठाते हैं, विद्याधरों के बाद देव उठाते हैं। उद्यान में जाकर वे अनेक राजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' कहकर वे दीक्षा लेते हैं और पाँच मुष्टियों से केश-

---

१. श्री सुदर्शनमेरु जिनबिम्बप्रतिष्ठा- स्मारिका, हस्तिनापुर पृ. १५-१६

लोंच करते हैं । इन्द्र उन केशों को रत्नमय पिटारी में रखकर क्षीर-सागर में क्षेप आता है ।

भगवान् शीत, आतप, वर्षा आदि की परीषहों और उपसर्गों को समताभाव से सहन करते हैं। वे अरि, मित्र, महल, मसान, कंचन, कांच, निन्दा, स्तुति, अर्घावतारण, असिप्रहारण इत्यादि में समभावी होकर घोर तपस्या करते हुए २८ मूलगुणों का पालन करते हैं। अनेक उपवासों के पश्चात् किसी सद्गृहस्थ के यहाँ वे दिन में केवल एक बार निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं। उनके तप और ज्ञान की महिमा से दाता के यहाँ रत्नवर्षा, पुष्पवर्षा देवदुन्दुभि आदि पंच आश्चर्य होते हैं । अन्त में शुक्लध्यान के द्वारा समस्त घातिया कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्रकट करते है ।

ज्ञान कल्याणक

घातिया कर्मों का क्षय होने पर केवलज्ञान, केवलदर्शन, अक्षय-सुख और अनन्तशक्ति इन चार गुणों को प्राप्त कर अर्हत् जिन एवं जीवन्मुक्त पद की प्राप्ति होती है। केवलज्ञान, के साथ ही बहुत बहुत भारी भामण्डल उत्पन्न होता है। भामण्डल के प्रकाश के कारण दिन रात का भेद नहीं रह जाता है । जहाँ तीर्थंकर को केवल ज्ञान होता है, वहीं एक अशोक वृक्ष प्रकट हो जाता है। तत्पश्चात् देव नाना प्रकार के फूलों की वर्षा करते हैं । मोक्ष को प्राप्त हुए समुद्र के समक्ष भारी शब्दों से युक्त देवों द्वारा बजाए दुन्दुभि बाजे बजने लगते हैं। भगवान् के दोनों ओर दो यक्ष चमर चलाते हैं । मेरु की शिखर के समान तथा सूर्य की किरणों को तिर-स्कृत करने वाला एक सिंहासन उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त मोतियों की लड़ियों से विभूषित छत्रत्रय उत्पन्न होता है ।

इन्द्र की आज्ञा से कुबेर कम से कम एक योजन विस्तारयुक्त सभा की रचना करता है, जिसे समवसरण कहा जाता है । इसमें देव, दानव, मानवों के साथ पशु आदि परस्पर विरोधी जाति के जीव भी अपना स्वाभाविक बैर विरोध छोड़कर धर्मोपदेश का पान करते हैं। उक्त सभा की रचनविश्व के समस्त ज्ञान विज्ञान के चातुर्य एव वैभव, शिल्प सम्पदा तथा सौन्दर्य से

समन्वित होती है, जिसमें किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं हो सकता है। विश्व का समस्त वैभव इस सभाभूमि पर व्याकीर्ण है (१)।

समवसरण में तीन कोट बनाए जाते हैं। कोटों की चारों दिशाओं में चार गोपुर होते हैं जो बहुत ही ऊँचे होते हैं। इन गोपुरों में चार वापियाँ होती है। गोपुर अष्टमङ्गल द्रव्य से युक्त होते हैं तथा इनकी शोभा अद्भुत होती है। समवसरण में स्फटिक की दीवालों से बाहर कोठे बने होते हैं, जो प्रदक्षिणा रूप से स्थित होते हैं, बीच में अशोक वृक्ष के नीचे सिंहासन पर तीर्थंकर विराजमान होते हैं। यह अशोक वृक्ष पार्थिव होता है। इसकी शाखायें वैडूर्य मणि की होती हैं, यह कोमल पल्लवों से शोभायमान होता है। फूलों के गुच्छों की कान्ति से यह समस्त दिशाओं को व्याप्त करता हुआ अत्यधिक सुशोभित होता है। यह कल्पवृक्षों के समान रमणीय होता है, इसके हरे तथा सघन पत्ते होते हैं और यह नाना प्रकार के रत्नों से निर्मित पर्वत के समान जान पड़ता है। तीर्थंकर का सिंहासन नाना रत्नों के प्रकाश से इन्द्रधनुष को उत्पन्न करता है, दिव्य वस्त्र से आच्छादित होता है, कोमल स्पर्श से मनोहर होता है, तीनों लोकों की प्रभुतास्वरूप तीन छत्रों से सुशोभित होता है, देवों द्वारा बरसाए गए फूलों से व्याप्त रहता है। भूमण्डल पर वर्तमान रहता है तथा यक्षराज के हाथों स्थित चमरों से सुशोभित होता है दुन्दुभिबाजों की शान्तिपूर्ण प्रतिध्वनि वहाँ निकलती है। सूर्य के प्रकाश को तिरस्कृत करने वाले प्रभामण्डल के मध्य में तीर्थंकर भगवान् विराजमान होते हैं तथा गणधर के द्वारा प्रश्न किए जाने पर वे धर्मोपदेश देते हैं (२)

तीर्थंकर आर्यावर्त के ३२ हजार देशों में विहार करते हैं। विहार के समय आगे धर्मचक्र चलता है जो किसी प्राणी के विनाश के लिए न होकर सुख और शान्ति के लिए होता है। भगवान् का ॐकार ध्वनिमय उपदेश अर्द्धमागधी भाषा में होता है, परन्तु उसमें

---

१ जैनमित्र चैत्रसुदी २ वीर सं. २५०५

२ पद्मचरित पर्व २

किसी भी भाषा के अक्षर नहीं होते अतः उस अतिशयपूर्ण उपदेश को १८ महाभाषी मानव और ७०० से अधिक लघुभाषाभाषी मानव अपनी अपनी भाषा में समझ लेते हैं। पशु पक्षी उसे अपनी अपनी भाषा में समझ लेते हैं।

मोक्ष कल्याणक

तीर्थंकर भगवान् विहार को रोककर किसी एक स्थान पर शरीर की क्रिया को समाप्त करते हुए चतुर्थ शुक्लध्यान में लीन हो जाते है और उस श्रेष्ठ अखण्ड आत्मशक्ति के द्वारा चौदहवें गुणस्थान के उपान्त समय में अघाति कर्मों की ७२ प्रकृतियों का तथा अन्त समय १३ प्रकृतियों का क्षय करते हुए पंचलघु स्वरों (अ इ उ ऋ लृ) के उच्चारण काल प्रमाण समय में निर्वाण को प्राप्त हो जाते है। वे लोक के अन्त में पहुँच जाते हैं। उनका परमौदारिक शरीर कपूर की भाँति वायु आदि में विलीन हो जाता है। नख, केश आदि शेष को अग्निकुमार देवों के मस्तक से उत्पन्न अग्नि भस्म कर देती है। जहाँ से तीर्थंकर देव निर्वाण प्राप्त करते हैं, वहाँ समस्त इन्द्रादि देव आकर उनकी रत्नदीपों से पूजा करते हैं तथा निर्वाण कल्याणक या मोक्ष कल्याणक का उत्सव मनाते हैं। वह स्थान तीर्थस्थान बन जाता है और आगे लोग उस स्थान तथा वहाँ पर स्थित मन्दिर, मूर्ति वगैरह का दर्शन कर पुण्यलाभ करते हैं।

पंचकल्याणक जैसे महान् मङ्गलप्रद प्रसङ्ग लोकोत्तर अभ्युदय के प्रतीक हैं। ये प्रसङ्ग सौभाग्य शालियों को ही प्राप्त होते हैं। इन दिनों व्रत, नियम, उपवास इत्यादि करना चाहिए तथा महोत्सव मनाना चाहिए। वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों की तिथियों की तालिका इस प्रकार है–



२४ तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों की तिथि बोधक तालिका

तीर्थंकर	गर्भ कल्याणक	जन्म कल्याणक	दीक्षा कल्याणक	ज्ञान कल्याणक	मोक्ष कल्याणक
१. ऋषभनाथ	आषाढ़ वदी २	चैत्र वदी ९	चैत्र वदी ९	फाल्गुन वदी ११	माघ वदी १४
२. अजितनाथ	ज्येष्ठ वदी ३०	पौष सुदी १०	पौष सुदी ९	पौष सुदी ११	चैत्र सुदी ५
३. संभवनाथ	फाल्गुन वदी ८	मार्गशीर्ष सुदी १५	मार्गशीर्ष सुदी १५	कार्तिक वदी ४	चैत्र सुदी ६
४. अभिनंदननाथ	बैसाख सुदी ६	पौष सुदी १२	पौष सुदी १२	पौष सुदी १४	बैसाख सुदी ६
५. सुमति नाथ	श्रावण सुदी २	वैसाख वदी १०	वैसाख सुदी ९	चैत्र सुदी ११	चैत्र सुदी ११
६. पद्मप्रभ	माघ वदी ६	कार्तिक वदी १३	मार्गशीर्ष वदी १०	चैत्र सुदी १५	फाल्गुन वदी ४
७. सुपार्श्वनाथ	भादों सुदी ६	ज्येष्ठ सुदी १२	ज्येष्ठ सुदी १२	फाल्गुन वदी ६	फाल्गुन वदी ७
८. चन्द्रप्रभ	चैत्र वदी ५	पौष वदी ११	पौष वदी १२	फाल्गुन वदी ७	फाल्गुन वदी ७
९. पुष्पदन्त	फाल्गुन वदी ९	मार्गशीर्ष सुदी ९	मार्गशीर्ष सुदी ९	कार्तिक सुदी २	भादों सुदी ८
१०. शीतलनाथ	चैत्र वदी ८	पौष वदी १२	पौष वदी १२	पौष वदी १४	आश्विन सुदी २
११. श्रेयांसनाथ	ज्येष्ठ वदी ६	फाल्गुन वदी ११	फाल्गुन वदी ११	माघ वदी ३०	श्रावण सुदी १५
१२. वासुपूज्य	आषाढ़ सुदी ६	फाल्गुन वदी १४	फाल्गुन वदी १४	माघ सुदी २	भादों सुदी १४
१३. विमलनाथ	ज्येष्ठ वदी १०	पौष सुदी ४	पौष सुदी ४	माघ सुदी ६	आषाढ़ वदी ८
१४. अनन्तनाथ	कार्तिक वदी १	ज्येष्ठ वदी १२	ज्येष्ठ वदी १२	चैत्र वदी ३०	चैत्र वदी ३०
१५. धर्मनाथ	वैसाख सुदी १३	पौष सुदी १३	पौष सुदी १३	पौष सुदी १५	ज्येष्ठ सुदी ४
१६. शान्तिनाथ	भादों वदी ७	ज्येष्ठ वदी १४	ज्येष्ठ वदी ४	पौष सुदी ११	ज्येष्ठ वदी १४
१७. कुन्थुनाथ	श्रावण वदी १०	बैसाख सुदी १	वैसाख सुदी १	चैत्र सुदी ३	वैसाख सुदी १

१८. अरहनाथ	फाल्गुन सुदी ३	मार्गशीर्ष सुदी १४	मार्गशीर्ष सुदी १०	कार्तिक सुदी १२	चैत्र वदी ३०
१९. मल्लिनाथ	चैत्र सुदी १	मार्गशीर्ष सुदी ११	मार्गशीर्ष सुदी ११	मार्गशीर्ष सुदी ११	फाल्गुन सुदी ५
२०. मुनिसुव्रतनाथ	श्रावण वदी २	चैत्र वदी १०	वैसाख वदी १०	वैशाख वदी ९	फाल्गुन वदी १२
२१. नमिनाथ	अश्विन वदी २	आषाढ़ वदी १०	आषाढ़ वदी १०	मार्गशीर्ष सुदी ११	वैसाख वदी १४
२२. नेमिनाथ	कार्तिक सुदी ६	श्रावण वदी ६	श्रावण सुदी ६	अश्विन सुदी १	आषाढ़ सुदी ७
२३. पार्श्वनाथ	वैसाख वदी ३	पौष वदी ११	पौष वदी ११	चैत्र वदी ४	श्रावण सुदी ७
२४. महावीर	आषाढ़ सुदी ६	चैत्र सुदी १३	कार्तिक वदी १३	वैसाख सुदी १०	कार्तिक वदी ३०



जाति : जन्म से नहीं, कर्म से

भगवान् महावीर के वर्ण–व्यवस्था–सम्बन्धी विचार अतीव उग्र एव क्रान्तिकारी थे। वे जन्मत: किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र आदि नहीं मानते थे। उन्होंने सदा कर्तव्य पर ही जोर दिया है। जातिवाद को कभी भी प्रश्रय नहीं दिया। उन्होंने जाति को जन्म से नही, कर्म से माना है। इस विषय में उनका मुख्य धर्म सूत्र था।

"कम्मुणा बभणो होई,
कम्मुणा होई खत्तियो।
वइसो कम्मुणा होई,
सुद्दो हवई कम्मुणा ॥"

उत्तराध्ययन २५।३३

अष्टाहि्नका पर्व

प्रतिवर्ष कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ की शुक्ल अष्टमी से पूर्णिमा तक अष्टाह्निका या आष्टाह्निक पर्व बड़े धूमधाम से मनाया जाता है। हम जहाँ रहते हैं, वह जम्बूद्वीप है। यह एक लाख योजन विस्तार वाला है। जम्बूद्वीप के बाद लवणोद समुद्र है। लवणोद समुद्र दो लाख योजन विस्तृत है। लवणोद समुद्र के बाद धातकी खण्ड द्वीप है, यह चार लाख योजन वाला है। आगे कालोदधि समुद्र है, यह आठ लाख योजन विस्तार वाला है। तदनन्तर पुष्करवर द्वीप है, यह १६ लाख योजन विस्तार वाला है। इसके बीचों बीच मानुषोत्तर पर्वत आ गया है, यहीं तक मनुष्यों की गति है। इसी को ढाई द्वीप कहते हैं। यह दो समुद्रों से घिरा हुआ मानुषोत्तर पर्वत तक है। मानुषोत्तर पर्वत १७२१ योजन ऊँचा और १०२२ योजन चौड़ा है मूल व ऊपर की चौड़ाई ४२४ योजन है, स्वर्ण वर्ण से युक्त है। उसके अभ्यन्तर महादिशा के चार कूटो में जिनमन्दिर हैं वहाँ तक मनुष्य रहते हैं। आगे उन्हें जाने की शक्ति नहीं है। कालोद समुद्र के आगे पुष्करवर द्वीप है, तत्पश्चात् पुष्करवर समुद्र है। इसके बाद वारुणीवर द्वीप है, तदनन्तर वारुणीवर समुद्र है अनन्तर क्षीरवर द्वीप है, पश्चात् क्षीरवर समुद्र है। इसका जल क्षीर के समान है। देवेन्द्र पाण्डुक शिला पर भगवान् का जन्माभिषेक इसी समुद्र के जल से करते हैं। अनन्तर घृतवर द्वीप है, उसके बाद घृतवर समुद्र है। इसका जल घी के समान है। अनन्तर इक्षुवर द्वीप है, उसके बाद इक्षुवर समुद्र है। इक्षुवर समुद्र का जल ईख के रस के समान मीठा है। इसके अनन्तर नन्दीश्वर द्वीप के पश्चात् नन्दीश्वर समुद्र है। इन द्वीप समुद्रों का विस्तार दुगुना दुगुना है। अथात् पहले द्वीप से दूसरे समुद्र का विस्तार दुगुना है। दूसरे समुद्र से आगे के द्वीप का विस्तार दुगुना है। इस प्रकार असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। स्वभूयं रमण पर्यन्त ये द्वीप समुद्र है।

नन्दीश्वर नामक आठवें द्वीप का व्यास १६३ करोड़ योजन है।

नन्दीश्वर द्वीप की चारों दिशाओं में एक-एक अंजनगिरि है। ये पर्वत ८४ हजार योजन विस्तार वाले हैं। इस द्वीप की पूर्व दिशा में रम्या, सुनन्दा, सुरम्या, सुसेना नामक चार वापिकाये हैं। दक्षिण दिशा में सुमाला, विद्युन्माला, सुषेणा व चन्द्रसेना नामकी वापिका है, पश्चिम दिशा में श्रीदत्ता, श्रीसेना, श्रीकान्ता व श्रीरामा नामकी वापिकायें हैं। उत्तर दिशा में कामाङ्गा, कामबाणा, सुप्रभा सर्वतोभद्रा नामकी वापिकायें है। ये वापिकायें जम्बूद्वीप के विस्तार वाली अर्थात् एक लाख योजन प्रमाण की हैं। प्रत्येक वापिका में दश हजार योजन विस्तार वाला दधिमुख पर्वत है। इस प्रकार १६ वापिका सम्बन्धी १६ दधिमुख हैं। प्रत्येक वापिका के कोने में दो रतिकर हैं। इस प्रकार कुल ३२ रतिकर हैं। इनका विस्तार एक हजार योजन है। इस प्रकार कुल ५२ पर्वत हैं (४+१६+३२) है। प्रत्येक पर्वत के शिखर पर एक-एक अकृत्रिम जिनमन्दिर है। इस प्रकार प्रत्येक दिशा में तेरह जिनमन्दिर हैं। प्रत्येक मन्दिर में १०८ अकृत्रिम जिनबिम्ब हैं। प्रत्येक जिनबिम्ब पद्मासनस्थ ५०० धनुष की अवगाहना वाले हैं इनकी प्रभा, तेज और कान्ति सूर्य को भी लज्जित करती है। नदीश्वर द्वीप में ५२ अकृत्रिम चैत्यालयों में कुल जिनबिम्ब ५६१६ हैं। प्राकृतिक रूप से प्रतिमाओं के ओष्ठ एवं नख लाल तथा केशों की पंक्ति श्याम वर्ण की है। प्रतिमाओं के दर्शन का ऐसा अद्भुत प्रभाव है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति सहज होती है।

अधिकांश रूप में कल्पवासी इन्द्र एवं सम्यग्दृष्टि देव ही नन्दीश्वर द्वीप जाते है और वहाँ आठ दिन रहकर भक्तिभाव पूर्वक अष्टाह्निका पर्व मनाकर सातिशय पुण्य का बन्ध करते हैं। कदाचित् कोई मिथ्यादृष्टि देव भी इनके साथ चला जाए तो वह भी सम्यक्त्व ग्रहण कर ही लौटता है। इस पर्व का सम्बन्ध ज्ञानी सम्यग्दृष्टि देवों से है, क्योंकि मनुष्य की गमनशक्ति तो पैंतालीस लाख योजन प्रमाण ढाई द्वीप तक ही है। ढाई द्वीप तक विद्याधर या चारण ऋद्धिधारी मुनीश्वर ही जा सकते हैं, सामान्य मनुष्य नही। गृहस्थाश्रम में रहते हुए तीर्थंकर भी ढाई द्वीप के आगे मनुष्य का श्वांस तक नहीं जा सकता तप कल्याणक के समय तीर्थंकर जब निर्ग्रन्थ मुनि होते हैं, तब केशलुंचन

करते हैं। उस समय नियोगानुसार देवगण केशों को रत्न की पिटारी में भरकर क्षीरसागर में डाल देते हैं। केश क्षीरसागर के आगे जाकर कपूर की तरह उड़ जाते हैं और देवगण वह रत्नपिटारी क्षीरसागर में ही स्थापित करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनुष्य का आठवें द्वीप नदीश्वर जाना असम्भव है।

मनुष्य अपनी शक्ति की लघुता को ध्यान में रखकर यहीं जिनमन्दिर इत्यादि में नन्दीश्वर द्वीप तथा उसमें स्थित जिनमन्दिर एवं जिनबिम्ब इत्यादि की कल्पनाकर श्रद्धाभक्तिपूर्वक भगवान् की अष्टाह्निका पर्व के दिनों में पूजा करता है, क्योंकि देवगण इन्हीं दिनों नन्दीश्वर द्वीप जाते हैं। इन दिनों प्रायः लोग सिद्ध चक्र का पाठ करते हैं। इस पर्व के दिनों में विशेष रूप से व्रत, नियम एवं संयम का पालन करना चाहिए तथा अपनी शक्ति के अनुसार एकासन वगैरह कर आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। यह पर्व दिगम्बर, श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में विशेष महत्त्व का माना जाता है।

प्राचीन काल में आष्टाह्निक पर्व का आयोजन

अष्टाह्निका पर्व मनाने की परम्परा बहुत प्राचीन है। इसके आयोजन की एक झांकी हमें पद्मचरित से प्राप्त होती है। तदनुसार इन दिनों मन्दिरों को पताकाओं से अलकृत किया जाता था एक से एक बढ़कर सभायें, प्याऊ, मंच, पट्टशालायें, मनोहर नाट्य शालायें तथा बड़ी बड़ी वापिकायें बनाई जाती थी। जिनालयस्वर्णादि की पराग से निर्मित नाना प्रकार के मण्डलादि से निर्मित एवं वस्त्र तथा कदली आदि से सुशोभित उत्तम द्वारों से शोभा पाते थे, जो दूध घी से भरे रहते थे, जिनके मुख पर कमल ढके जाते थे, जिनके कण्ठ में मोतियों की मालायें लटकती थीं, जो रत्नों की किरणों से सुशोभित होते थे, जिन पर विभिन्न प्रकार के बेलबूटे देदीप्यमान होते थे तथा जो जिनप्रतिमाओं के अभिषेक के लिए इकट्ठे किये जाते थे, ऐसे हजारों कलश गृहस्थों के घरों में दिखाई देते थे। मन्दिरों में कर्णिकार, अतिमुक्तक, कदम्ब, सहकार, चम्पक पारिजातक तथा मन्दार आदि के फूलों से निर्मित अत्यन्त उज्ज्वल मालायें

सुशोभित होती थीं। भौंरे सुगन्धि के कारण उन पर मँडराया करते थे। उस समय किए जाने वाले कार्यों की शोभा देखते ही बनती थी। कोई मण्डल बनाने के लिए बड़े आदर से पाँच रंग के चूर्ण पीसने का कार्य करता तो नाना प्रकार की रचना करने में निपुण कोई मालायें गूँथता। कोई जल को सुगन्धित करता, कोई पृथ्वी को सींचता, कोई नाना प्रकार के सुगन्धित पदार्थ पीसता, कोई अत्यन्त सुन्दर वस्त्रों से जिनमन्दिर के द्वार की शोभा करता। तथा कोई नाना धातुओं के रस से दीवालों को अलंकृत करता। इसके बाद उत्तमोत्तम सामग्रियों को एकत्रित कर तुरही के विशाल शब्द के साथ जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक किया जाता। व्रत करने वाला व्यक्ति सहज और कृत्रिम (स्वर्ण, चाँदी तथा मणिरत्न से निर्मित कमलों आदि) से महापूजा करता था। इसके बाद सब लोग गन्धोदक मस्तक पर लगाते थे। इस अवसर पर उत्तमोत्तम नगाड़े, तुरही, मृदंग, शख तथा काहल आदि वादित्रों से मन्दिर में विशाल शब्द होता था। कहीं कहीं पर बड़ी धूमधाम से नगर में जिनेन्द्र भगवान का रथ भी निकलवाया जाता था। इस दिनों समस्त पृथ्वी पर राजा को ओर से जीवों के मारने का निषेध रहता था। यदि राजाओं में युद्ध हो रहा होता तो दोनों पक्ष के लोग युद्ध से विरत रहते थे (१)।

अष्टाह्निका व्रत की विधि

आचार्य सिंहनन्दि कृत व्रत तिथि निर्णय ग्रन्थ तथा स्व. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री कृत विवेचन के अनुसार अष्टाह्निका व्रत की विधि इस प्रकार है।

अष्टाह्निका व्रत कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष में अष्टमी से पूर्णिमा तक किया जाता है। तिथिवृद्धि हो जाने पर एक दिन अधिक करना पड़ता है। व्रत के दिनों के मध्य में तिथिह्रास होने पर एक दिन पहले से व्रत करना होता है। जैसे– मध्य में तिथिह्रास होने से सप्तमी को उपवास, अष्टमी को पारणा, नवमी को कांजी–छाछ, दशमी को ऊनोदर, एकादशी को उपवास,

---

१ आचार्य रविषेण : पद्मचरित पर्व २६, ६८,२२,८,४७, के आधार पर,

द्वादशी को पारणा, त्रयोदशी को नीरस, चतुदशी को उपवास एवं शक्ति होने पर पूर्णिमा को उपवास, शक्ति के अभाव में ऊनोदर तथा प्रतिपदा को पारणा (व्रतान्त भोजन) करना चाहिए। यह सरल और जघन्य विधि अष्टाह्लिका व्रत की है। व्रत की उत्कृष्ट विधि यह है कि अष्टमी से षष्ठोपवास अर्थात् अष्टमी, नवमी का उपवास, दशमी को पारणा, एकादशी और द्वादशी को उपवास, त्रयोदशी को पारणा एवं चतुर्दशी और पूर्णिमा को उपवास और प्रतिपदा को पारणा करनी चाहिए। इस प्रकार विधि से जो व्रत नहीं करते, उनकी व्रत विधि दूषित हो जाती है और व्रत का फल नहीं मिलता है। व्रत ग्रहण करने का सकल्प इस प्रकार है।

ॐ अद्य भगवतो महापुरुषस्य ब्रह्मणो मते मासानां मासोत्तमे मासे आषाढमासे शुक्लपक्षे सप्तम्यां तिथौ......वासरे...जम्बूद्वीपे भरत क्षेत्रे आर्यखण्डे......प्रदेशे......नगरे एतत् अवसर्पिणी कालावसानचतुर्दशप्राभृत मानिमानित सकललोक व्यवहारे श्री गौतम स्वामिश्रेणिक महामण्डलेश्वर समाचरित सन्मार्गविशेषे...वीरनिर्वाण संवत्सरे अष्टमहाप्रातिहार्यादिशोभित श्रीमदर्हत्परमेश्वर प्रतिमासन्निधौ अहम् अष्टाह्लिका व्रतस्य सकल्पं करिष्ये। अस्य व्रतस्य समाप्ति पर्यन्तं मे सावद्यत्यागः गृहस्थाश्रमजन्यारम्भ परिग्रहादीनामपित्यागः।

सप्तमी तिथि से प्रतिप्रदा तक ब्रह्मचय व्रत धारण करना आवश्यक होता है, भूमि पर शयन, सचित्त पदार्थों का त्याग, अष्टमी को उपवास, रात्रि को जागरण आदि क्रियायें की जाती है।

अष्टमी तिथि को दिन में नन्दीश्वर द्वीप का मण्डल माँडकर अष्टद्रव्यों से पूजा की जाती है। पूजा पाठ के अनन्तर नन्दीश्वर व्रत की कथा पढ़नी चाहिए। 'ॐ ह्रीं नन्दीश्वर द्वीपजिनालयस्थ जिनबिम्बेभ्यो नमः' इस मन्त्र का १०८ बार जाप करना चाहिए। नवमी को 'ॐ ह्रीं अष्टमहाविभूति संज्ञाये नमः' इस महामन्त्र का जाप, दशमी को 'ॐ ह्रीं त्रिलोक सागर संज्ञायै नमः' मन्त्र का जाप, एकादशी को 'ओं ह्रीं चतुर्मुख संज्ञायै नमः' मन्त्र का जाप, द्वादशी को 'ओं ह्रीं पञ्च महालक्षण संज्ञायै नमः' मन्त्र का जाप, त्रयोदशी को 'ॐ ह्रीं

स्वर्गसोपान संज्ञायै नमः मन्त्र का जाप, चतुर्दशी को ॐ ह्रीं सिद्ध चक्राय नमः' मन्त्र का जाप एवं पूर्णमासी को ॐ ह्रीं इन्द्रध्वज सज्ञायै नमः, मन्त्र जाप करना चाहिए ।

व्रत की पारणा और समाप्ति के दिन णमोकार मन्त्र का जाप करना चाहिए। व्रत समाप्ति के दिन निम्नलिखित संकल्प पढ़कर सुपाड़ी, पैसा या नारियल चढ़ाकर भगवान् को नमस्कार कर घर आना चाहिए—

'ओं आद्यानाम् आद्ये जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे शुभे श्रावणमासे कृष्ण पक्षे अद्य प्रतिपदायां श्री मदर्हत्प्रतिमासन्निधौ पूर्वं यद्व्रत गृहीतं तस्य परिसमाप्तिं करिष्ये—अहम् । प्रमादाज्ञानवशात् व्रते जायमान-दोषाः शान्तिमुपयातु— ओं ह्रीं क्ष्वीं स्वाहा। श्री मज्जिनेन्द्रचरणेषु आनन्दभक्तिः सदास्तु, समाधिमरण भवतु, पापविनाशन भवतु – ओं ह्रीं असि आ उ सा य नमः । सर्वशान्तिर्भवतु स्वाहा ।

अष्टाह्निका पर्व की कथा

अष्टाहि्नका व्रत का अत्यधिक महत्त्व है । इस व्रत का आचरण कर मैनासुन्दरी ने अपने पति राजा श्रीपाल का कोढ़ दूर किया था । अनन्तवीर्य और अपराजित इस व्रत को कर क्रमशः चक्रवर्ती और चक्रवर्ती के सेनापति हुए । जयकुमार इस व्रत के प्रभाव से मनः पर्ययज्ञानी होकर तीर्थंकर ऋषभदेव का गणधर हुआ तथा सुलोचना भी इस व्रत के प्रभाव से आर्यिका व्रत धारणकर स्त्रीलिङ्ग छेदकर स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुई। इसकी सुप्रसिद्ध कथा यह है—

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में अयोध्या नगरी में हरि-षेण चक्रवर्ती राज्य करता था । उसकी पटरानी का नाम गन्धर्व सेना था। एक बार वह बसन्त ऋतु में नगरिकों तथा अपनी ९६ हजार रानियों सहित बनक्रीड़ा के लिए गया । वहाँ उसने एक स्थान महान् तपस्वी अरिंजय और अमितञ्जय नामक दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराजों को देखा । भक्तिसहित उसने उनकी वन्दना की और धर्म का स्वरूप पूछा। धर्म का स्वरूप सुनकर राजा अत्य—

धिक प्रसन्न हुआ और उसने पूछा– मैंने कौन सा ऐसा पुण्य किया है, जिससे इतनी बड़ी बिभूति मुझे प्राप्त हुई है ?

मुनिराज ने कहा– इसी अयोध्या नगरी में कुबेरदत्त नामक वैश्य और उसकी पत्नी सुन्दरी के श्रीवर्मा, जयकीर्ति और जयवर्मा ये तीन पुत्र थे। एक बार श्रीवर्मा ने एक दिगम्बर मुनिराज से नन्दीश्वर व्रत लिया तथा उसका यथाविधि पालन किया। आयु के अन्त में संन्यासपूर्वक मरण कर वह स्वर्ग में महान् ऋद्धिवाला देव हुआ। स्वर्ग की आयु पूर्ण कर तू हरिषेण नामक चक्रवर्ती हुआ है। उसी व्रत के प्रभाव से तुम्हारे यह चक्रवर्ती की सम्पदा है। तुम्हारे पूर्वजन्म के भाई जयकीर्ति और जयवर्मा भी उसी व्रत के प्रभाव से स्वर्ग में ऋद्धिधारी देव हुए। वहाँ आयु पूर्ण कर वे विमल नामक सेठ की पत्नी लक्ष्मीमति के अरिञ्जय और अमितंजय नामक पुत्र हुए। ये दोनों अरिंजय और अमितंजय हम ही हैं। मुनिराज के उपदेश से हरिषेण ने पुनः उसी व्रत का विधि पूर्वक आचरण किया तथा अन्त: में संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर जिनदीक्षा ले ली। अन्त में घाति, अघाति कर्मों का विनाश कर निर्वाण प्राप्त किया।



वीर शासन जयन्ती पर्व

जैन शास्त्रों के अनुसार नए वर्ष का प्रारम्भ श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को होता है। युग का प्रारम्भ अथवा उत्सर्पिणी अवसर्पिणी रूप कालों का आरम्भ इसी तिथि से हुआ है। युग की समाप्ति आषाढ़ पूर्णिमा को होती है, पश्चात् श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को अभिजित् नक्षत्र, बालवकरण और रौद्रमुहूर्त में युग का आरम्भ हुआ करता है (१)। तिलोयपण्णत्ती में कहा है–

१ डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री : व्रततिथि निर्णय पृ. १२

सावण बहुले पाडिबरुद्दमुहुत्ते सुहोदये रविणो ।
अभिजस्स पढमजोए जुगस्स आदीइमस्स पुढ ।।

श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को ही भगवान् महावीर की सर्वप्रथम दिव्य ध्वनि खिरी थी । ऋषभादि पार्श्वपर्यन्त तेईस तीर्थंकरों में से प्रत्येक ने केवलज्ञ न की प्राप्ति के उपरान्त अपने-अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन करके अपनी धर्मव्यवस्था, धर्मशासन या जिनशासन की स्थापना की थी और सच्चे सुख के साधन मोक्षमार्ग का पुनः पुनः उद्घाटन किया था । एक तीर्थंकर द्वारा धर्मचक्र प्रवर्तन से लेकर अगले तीर्थंकर के धर्मचक्र प्रवर्तन पर्यन्त उक्त पूर्ववर्ती तीर्थंकर का ही शासन चला और लोकप्रसिद्ध रहा। इस प्रकार भगवान पार्श्वनाथ (ई. पू. ८७७-७७७) का धर्मशासन ईसापूर्व ८४६ से लेकर ५५७ तक चला जिसके उपरान्त अन्तिम तीर्थंकर निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र वर्द्धमान महावीर का शासन प्रवर्तित हुआ (१) ।

तीस वर्ष के बाद जब कि चन्द्रमा उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र पर था तब मगसिर वदी दशमी के दिन भगवान महावीर वन को चले गए और उन्होंने बारह वर्ष तक अनशनादिक बारह प्रकार का तप किया। तत्पश्चात् वे विहार करते हुए ऋजुकूला नदी के तट पर स्थित जृम्भिक गाँव के समीप पहुँचे । वहाँ वैसाख सुदी दशमी के दिन दो दिन के उपवास का नियम कर वे सालवृक्ष के समीप स्थित शिलातल पर आतापन योग में आरूढ हुए । उसी समय जब कि चन्द्रमा उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में स्थित था तब शुक्लध्यान को धारण करने वाले वर्द्धमान जिनेन्द्र घातिया कर्मों के समूह को नष्टकर केवलज्ञान को प्राप्त हुए । भगवान छयासठ दिन तक मौन विहार करते हुए वे राजगृह नगर आये । नियमानुसार तो जहाँ तीर्थंकरों को केवलज्ञान प्राप्त हुआ वहाँ तत्काल बाद उनकी दिव्य ध्वनि खिरने लगती है, पर भगवान महावीर इसके अपवाद स्वरूप हैं। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि उस समय तक उनका कोई गणधर नहीं था । राजगृह के वैभार

१ डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन : वीरशासन जयन्ती का सन्देश(जैन सन्देश १६ अग. ७६

पर्वतपर जो कि उस नगरी के पश्चिम दक्षिण कोण पर स्थित था, आषाढ़ शुक्ल १५ के दिन महा तेजस्वी विप्रश्रेष्ठ इन्द्रभूति गौतम, अग्निभूति, वायुभूति तथा कौण्डिन्य आदि पण्डित इन्द्र की प्रेरणा से श्री अरहन्तदेव के समवसरण में आए। वे सभी पण्डित अपने पाँच-पाँच सौ शिष्यों सहित थे तथा सभी ने वस्त्रादि का सम्बन्ध त्यागकर संयम धारण कर लिया। उसी समय राजा चेटक की पुत्री चन्दना कुमारी एक स्वच्छ वस्त्र धारणकर आर्यिकाओं में प्रमुख हो गई। राजा श्रेणिक भी अपनी चतुरङ्गिणी सेना के साथ समवसरण में पहुँचा और वहाँ सिंहासन पर विराजमान श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र को उसने नमस्कार किया। इस प्रकार भगवान के मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ का गठन हुआ। इसी कारण आषाढ़ की पूर्णिमा गुरु पूर्णिमा के नाम से प्रसिद्ध हुई।

वर्द्धमान प्रभु ने श्रावण मास के कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के प्रातः काल के समय अभिजित् नक्षत्र में समस्त संशयों को छेदने वाले, दुन्दुभि शब्द के समान गम्भीर तथा एक योजन तक फैलने वाली दिव्यध्वनि के द्वारा शासन की परम्परा चलाने के लिए उपदेश दिया उनकी सभा में देव, मनुष्य, स्त्री, पशु-पक्षी सभी बिना किसी भेद-भाव से बैठकर उनकी अमृतवाणी का पान करते थे। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वीर प्रभु को दिव्यध्वनि के लिए गणधर के बिना ६६ दिन तक क्यों रुकना पड़ा। इसका उत्तर आचार्य समन्तभद्र ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में दिया है—

बाह्येतरोपाधि समग्रतेयं
कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवाऽन्यथा मोक्ष विधिश्च पुंसां
तेनाऽभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम्॥ ५(६०)स्वयम्भू स्तोत्र

'कार्यों में बाह्य और आभ्यन्तर दोनों कारणों की जो यह पूर्णता है, वह आपके मत में द्रव्यगत स्वभाव है, अन्यथा पुरुषों के मोक्ष की विधि भी नहीं बनती है। इसी से परमर्द्धि सम्पन्न ऋषि आप बुधजनों के अभिवन्द्य हैं।' अर्थात् द्रव्यों में कार्य रूप से परिणत होने का स्वभाव यही है कि बाहरी निमित्त और इतर अर्थात् अन्तरङ्ग (उपादान)

सामग्री परिपूर्ण हो जाय अर्थात् केवल उपादान की सफलता अथवा केवल निमित्तों की परिपूर्णता द्वारा ही मानव को मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। भगवान महावीर की दिव्यध्वनि केवलज्ञान होने के बाद ६६ दिन नहीं खिरी, इसका उपादान कारण स्वय महावीर थे, क्योंकि द्रव्य का परिणमन स्वयं की योग्यता से स्वय स्वकाल में होता है और बाह्य में निमित्तकारण है। गणधर के अभाव में दिव्यध्वनि नही खिरती है, ऐसा मानना सिद्धान्त से मेल नहीं खाता है और यह पराश्रयता का प्रतीक है। गौतम गणधर तो निमित्तमात्र थे। जब दिव्यगिरा खिरने का परिणमन हुआ तब गौतम गणधर केवल निमित्त थे। गौतम गणधर ने बलात् भगवान महावीर की दिव्यध्वनि नहीं खिराई थी, पर दिव्यध्वनि अपने स्वकाल में अपनी योग्यता से खिरी थी। उपादान निमित्त का यही सुमेल है। उपादान कारण में उपादेय रूप कार्य स्वय होता है और निमित्त कारण में नैमित्तिक कार्य स्वयं होता है दोनों कारकों में अपने अपने कार्य पर्याय दशा परिणमन अपनी योग्यता से स्वय हो रहा है। कोई किसी के आश्रित नहीं है। उपादान अपना कार्य करता है, निमित्त अपना कार्य करता है, यह प्राकृतिक सुन्दर व्यवस्था है (१)।

धवल सिद्धान्त और तिलोयपण्णत्ती में भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि की तिथि को धर्मतीर्थोत्पत्ति तिथि कहा गया है–

वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजम्हि॥
(धवलाटीका प्र. भाग पृ. ६३)

एत्थावसप्पिणीए चउत्थकालस्स चरमभागम्मि।
तेत्तीसवासअडमासपण्णरसदिवससेसम्मि॥
वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुल पडिवाए।
अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स॥
(तिलोयपण्णत्ती प्रथमाधिकार गाथा ६८-६९)

---

१ जैनमित्र अंक– २८-७-७७

अर्थात् अवसर्पिणी के चतुर्थकाल के अन्तिम भाग में तैतीस वर्ष आठ माह और पन्द्रह दिन शेष रहने पर वर्ष के श्रावणमास नामक प्रथम माह में कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन, अभिजित नक्षत्र के उदित रहने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई।

उपर्युक्त प्रमाण के अनुसार श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को अभि-जित् नक्षत्र के होने पर ही वीरशासन जयन्ती सम्पन्न की जानी चाहिए।

भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि अनक्षरी, दुन्दुभि के समान गम्भीर तथा एक योजन तक फैलने वाली थी। प्रथम ही भगवान् महावीर ने आचाराङ्ग का उपदेश दिया। अनन्तर सूत्रकृताङ्ग स्था-नाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, अङ्ग, ज्ञातृधर्मकथाङ्ग, श्रावका ध्ययनाङ्ग, अन्तकृद्दशाङ्ग, अनुत्तरोपपादिक दशाङ्ग, प्रश्न व्याकरण और पवित्र अर्थ से युक्त विपाकसूत्र इन ग्यारह अङ्गों का उपदेश दिया। इसके बाद जिसमें तीन सौ त्रेसठ द्रष्टियों का कथन है तथा जिसके पाँच भेद हैं ऐसे बारहवें द्रष्टिवाद अङ्ग का सवदर्शी भगवान् ने निरूपण किया। जगत् के स्वामी तथा ज्ञानियों में अग्र-सर श्री वर्धमान जिनेन्द्र ने प्रथम ही परिकर्म, सूत्रगत, प्रथानुयोग और पूर्वगत भेदों का वर्णन किया फिर पूर्वगत भेद के उत्पादपूर्व अग्रायणीय पूर्व, वीर्यप्रवादपूव, अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व, ज्ञानप्रवाद पूर्व, सत्यप्रवाद पूर्व, आत्मप्रवाद पूर्व, कर्मप्रवाद पूर्व, विद्यानुवाद पूर्व, कल्याण पूर्व, प्राणावायपूर्व, क्रियाविशाल पूव और लोकबिन्दुसारपूर्व इन चौदह पूर्वों का तथा वस्तुओं से सहित चूलिकाओं का वर्णन किया। भगवान् जिनेन्द्र ने अङ्ग प्रविष्ट तत्त्व का वर्णन कर अङ्ग बाह्य के चौदह भेदों का यथार्थ वर्णन किया। प्रथम ही उन्होंने सार्थक नाम को धारण करने वाले सामायिक प्रकीर्णक का वर्णन किया तदनन्तर चतुर्विंशति स्तवन, पवित्र वन्दना, प्रतिक्रमण, वैन-यिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक तथा जिसमें प्रायः प्रायश्चित्त का वर्णन हैं ऐसी निषद्यका इन चौदह प्रकीर्णकों का वर्णन किया। इसके बाद भगवान् ने मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानों का स्वरूप, विषय, फल तथा संख्या बतलाई और साथ ही

यह बतलाया कि उक्त पाँच ज्ञानों में प्रारम्भ के दो ज्ञान परोक्ष और अन्य तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। तदनन्तर चौदह मार्गणा स्थान चौदह गुणस्थान और चौदह जीवसमास के द्वारा जीवद्रव्य का उपदेश दिया। तत्पश्चात् सत्, संख्या क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगद्वारों से तथा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों से द्रव्य का निरूपण किया। उन्होंने यह भी बतलाया कि पुद्गल आदिक द्रव्य अपने अपने लक्षणों से भिन्न-भिन्न हैं और सामान्य रूप से सभी उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य-रूप त्रिलक्षण से युक्त हैं। शुभ अशुभ के भेद से कर्मबन्ध के दो भेद बतलाए, उनके पृथक्-पृथक् कारण समझाये, शुभबन्ध सुख देने वाला है और अशुभबन्ध दुःख देने वाला है, यह बतलाया। मोक्ष का स्वरूप, मोक्ष का कारण और अनन्तज्ञान आदि आठ गुणों का प्रकट हो जाना मोक्ष का फल है यह समझाया तथा लोक और अलोक के लक्षण बतलाए। उपदेश श्रवण के अनन्तर सात ऋद्धियों से सम्पन्न गौतम गणधर ने जिनभाषित पदार्थ का श्रवण कर उपाङ्ग सहित द्वादशाङ्ग रूप श्रुतस्कन्ध की रचना की (१)।

भगवान् महावीर की वाणी वीतरागता से ओतप्रोत थी। संसारी जीवों की वचन वर्गणायें तो तालु, दन्त, ओष्ठ, मूर्धा, कण्ठ आदि से निकलती हैं, जो भाषा का माध्यम प्राप्त कर एक दूसरे को समझ में आती है, किन्तु भगवान् महावीर की वाणी ऐसी नहीं थी, वह दन्त, तालु, कण्ठ इत्यादि से न निकलकर सर्वाङ्ग आत्मप्रदेशों से निकलती थी और वह भी निरक्षरी थी, केवल ओंकारमय थी। सभी प्राणी उसे अपनी अपनी भाषा में समझ लेते थे। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकर स्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ? ॥८॥
(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

शास्ता अर्थात् धर्मोपदेश करने वाले अरहन्त भगवान् अनात्मार्थ

---

१ जिनसेन : हरिवंशपुराण २/९०–१११

अर्थात् अपनी ख्याति, लाभ, पूजादिक प्रयोजन के बिना तथा शिष्यों के प्रति रागभाव के बिना सज्जनों को हितरूप शिक्षा देते है। जैसे मृदंग किञ्चित् अपेक्षा नहीं करता है तात्पर्य यह कि ससारी जन जितना कार्य करते हैं, उसमें उन्हें लोभ, प्रशंसा, यश आदि की की अपेक्षा रहती है। भगवान् अरहन्त प्रयोजन के बिना ही जगत् के जीवों ो हितोपदेश देते हैं। जैसे मेघ प्रयोजन के बिना ही लोगों के पुण्योदय के निमित्त से विभिन्न स्थानों में गमन करता हुआ प्रचुर जल की वर्षा करता है वैसे ही भगवान् आप्त भी लोगों के पुण्य के निमित्ति से पुण्यदेशों में विहारकर धर्मामृत की वर्षा करते हैं, क्योंकि सत्पुरुषों की चेष्टा परोपकार के लिए हुआ करती है। जैसे कल्पवृक्ष तथा आम्रादि वृक्ष परोपकार के लिए ही फलते हैं। पर्वत प्रचुर सुवर्णादि सम्पदा को इच्छा के बिना ही जगत् के लिए धारण करता है। समुद्र रत्नों को तथा गाय दूध को दूसरे के लिए धारण करती है एवं दाता परोपकार के लिए धन को धारण करते हैं। संसार में जितने परोपकारी पदार्थ हैं वे इच्छा बिना ही लोगों के पुण्य के प्रभाव से प्रकट होते है। इसी प्रकार भगवान् आप्त ने इच्छा के बिना ही लोगों के परोपकार के लिए धर्मरूप हितोपदेश किया। इसीलिए आचार्य समन्तभद्र ने भगवान् के तीर्थ को सर्वोदय तीर्थ कहा है—

सर्वान्तवत्तद् गुणमुख्य कल्पं
सर्वान्तशून्य च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वाऽऽपदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥ युक्त्यनुशासन-६१

अर्थात् आपका तीर्थ— शासन सर्वान्तवान् है और गौण तथा मुख्य की कल्पना को साथ में लिए हुए है। जो शासन वाक्य धर्मों में पारस्परिक अपेक्षा का प्रतिपादन नहीं करता वह सर्व धर्मो से शून्य है। अतः आपका ही यह शासन तीर्थ सर्व दुःखों का अन्त करने वाला है—यही निरन्त है और यही सब प्राणियों के अभ्युदय का कारण तथा आत्मा के पूर्ण अभ्युदय का साधक सर्वोदयतीर्थ है। भावार्थ यह कि आपका शासन अनेकान्त के प्रभाव से सकल दुर्नयों (परस्पर निरपेक्ष नयों)

अथवा मिथ्यादर्शनों का अन्त करने वाला है और ये दुर्नय अथवा सर्वथा एकान्तवाद रूप मिथ्यादर्शन ही संसार में अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःखरूप आपदाओं के कारण होते हैं, इसलिए इन दुर्नय रूप मिथ्यादर्शनों का अन्त करने वाला होने से आपका शासन समस्त आपदाओं का अन्त करने वाला है, अर्थात् जो लोग आपके शासनतीर्थ का आश्रय लेते हैं, उसे पूर्णतया अपनाते हैं- उनके मिथ्या दर्शनादि दूर होकर समस्त दुःख मिट जाते हैं और वे अपना पूर्ण अभ्युदय उत्कर्ष एव विकास- सिद्ध करने में समर्थ हो जाते हैं (१)

प्रतिवर्ष वीर शासन जयन्ती को मनाते समय भगवान् महावीर सर्वोदय तीर्थ की भावना को हृदय में अंकित कर उनकी वाणी का घर-घर में प्रचार और प्रसार करने का सतत यत्न करना प्रत्येक सत्पुरुष का कर्तव्य है, क्योंकि भगवान् के इष्ट शासन से यथेष्ट द्वेष रखने वाला मनुष्य भी यदि समदृष्टि वाला होकर मात्सर्य के त्याग पूर्वक युक्तिसङ्गत समाधान की दृष्टि से उनके इष्ट शासन का अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मान-शृङ्ग खण्डित हो जाता है सर्वथा एकान्त रूप मिथ्यामत का आग्रह छूट जाता है और वह अभद्र होने पर भी सब ओर से भद्र बन जाता है-

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः
समीक्ष्यतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।
त्वयि ध्रुवं खण्डित मानशृङ्गो
भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥ युक्त्यनुशासन ६२



---

१ पं. जुगलकिशोर जी कृत युक्त्यनुशासन का भावार्थ पृ. ८५

अक्षयतृतीया पर्व

प्रतिवर्ष बैसाख शुक्ल तृतीया को अक्षयतृतीया पर्व मनाया जाता है। यह पर्व प्राचीन है, क्योंकि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने निर्ग्रन्थ अवस्था में जब हस्तिनागपुर के राजा श्रेयांस के यहाँ आहार लिया था, तभी से उनके निमित्त से यह पर्व प्रारम्भ हुआ। भगवान ऋषभ-देव मानव सस्कृति के आदि संस्कर्ता हैं। वर्तमान अवसर्पिणी काल के तीसरे सुषमा दुषमा नामक काल में जब चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष, आठ माह एक पक्ष बाकी रह गया था तो आषाढ़ कृष्णा द्वितीया के दिन अन्तिम कुलकर नाभिराय की पत्नी मरुदेवी के गर्भ में अवतीर्ण हुए। नव मास के बाद चैत्रकृष्ण नवमी के दिन उत्तरा-षाढ नक्षत्र और ब्रह्म नामक महायोग में उनका जन्म हुआ। बीस लाख पूर्व वर्ष कुमारावस्था में एवं तिरेसठ लाख पूर्व वष राज्यावस्था में व्यतीत होने पर किसी समय राज्य सभा में नीलांजना देवी का नृत्य देखते हुए अकस्मात् उसकी आयु समाप्त हुई जानकर भगवान् संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गये और लौकान्तिक देवों के द्वारा स्तुत होकर देवों के द्वारा लाई हुई सुदर्शना नामक पालकी पर आरुढ़ होकर अयोध्या नगरी से बाहर कुछ दूर पर सिद्धार्थ नामक वन में पहुँचे। पचमुष्टि केशलोंच करके उन्होंने सम्पूर्ण परि-ग्रह का त्याग कर दिया और ॐ नमः सिद्धेभ्यः कहते हुए उन्होंने दीक्षा ले ली। वह दिन चैत्र वदी नवमी का था। छह मास मौन साधना करने बाद वे आहार के लिए नगर की और ग्रामों में विहार करने लगे। भावुक मनुष्य भगवान् के दर्शन कर भक्ति भावना से विभोर होकर अपनी रूपवती कन्यायें, सुन्दर वस्त्र, अमूल्य आभूषण, हाथी, घोड़े, रथ, सिंहासन आदि वस्तुयें भेंट करने लगे। कोई भी विधिपूर्वक उन्हें भिक्षा नहीं देता था, क्योंकि भिक्षा देने की विधि उन्हें ज्ञात ही नहीं थी। भगवान् अन्य समस्त वस्तुओं को ग्रहण ही नहीं करते थे। इस प्रकार पुनः उन्होंने छह माह निराहार रहकर योग साधना की। छह माह बाद पुनः वे आहार के लिए हस्तिनागपुर

को ओर आए। दूर से उन्हें आता हुआ देखकर राजा श्रेयांस को अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। इस भव से आठवें भव पहले भगवान् ऋषभदेव वज्रजंघ नाम के राजा थे और श्रेयांसकुमार का जीव उनको रानी श्रीमती था। एक बार राजा वज्रजंघ ने वन में दमधर और सागरसेन नामक मुनिराज को आहार दिया था। उस आहार दान के प्रभाव से देवों ने पचाश्चर्य किए थे।

चान्द्रीचर्या (१) से विचरण करते हुए भगवान् ऋषभदेव के सामने आने पर दान धर्म की विधि के ज्ञाता और उसकी स्वयं प्रवृत्ति कराने वाले राजा श्रेयांस श्रद्धा आदि गुणों से युक्त हो हे भगवान ! तिष्ठ-तिष्ठ ठहरिए-ठहरिए यह कहकर उन्हें घर के भीतर ले गए और उच्चासन पर विराजमान कर उनके चरण कमल धोए, उनके चरणों की पूजा करके उन्हें मन, बचन, काय से नमस्कार किया और सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त पात्र को देने की इच्छा से उन्होंने इक्षुरस से भरा हुआ कलश उठाकर कहा कि हे प्रभो ! यह इक्षुरस सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादन दोष, दश एषणा दोष तथा धूम, अङ्गार, प्रमाण और संयोजना इन चार दाता सम्बन्धी दोषों से रहित एवं प्रासुक है, इसे ग्रहण कीजिए। अनन्तर जिनकी आत्मा विशुद्ध थी और जो पैरों को सीधाकर खड़े थे, ऐसे भगवान् वृषभदेव ने क्रिया से आहार की विधि दिखाते हुए चारित्र की वृद्धि के लिए पारणा की। राजा श्रेयांस ने कल्याणकारी श्री जिनेन्द्र रूपी पात्र प्राप्त किए, इसलिए पाँच प्रकार की आश्चर्यजनक विशुद्धियों से ये पञ्चाश्चर्य प्राप्त हुए- (१) रत्न वृष्टि (२) पुष्पवृष्टि (३) दुन्दुभिवाद्य का बजना (४) शीतल और सुगन्धित मन्द मन्द वायु का चलना (५) अहो दानम् इत्यादि प्रशंसा वाक्य। अर्चित होने के बाद जब तीर्थंकर ऋषभदेव तप की वृद्धि के लिए वन को चले गए तब देवों ने अभिषेक पूर्वकदान तीर्थकर राजा श्रेयांस

---

१ जिस प्रकार चन्द्रमा छोटे बड़े सभी के घर पर प्रकाश फैलता है, उसी प्रकार जिसमें अतिथि छोटे बड़े सभी के घर पर जाता है, उसे चान्द्री-चर्या कहते हैं।

की पूजा की। देवों से समीचीन दान और उसके फल की घोषणा सुनकर भरतादि राजाओं ने भी आकर राजा श्रेयान्स की पूजा की।

पूर्व घटना का स्मरण कर राजा श्रेयान्स ने जो दान रूपी धर्म की विधि बताई उसे दान का प्रत्यक्ष फल देखने वाले भरतादि राजाओं ने बड़ी श्रद्धा के साथ श्रवण किया। राजा श्रेन्यास ने बताया कि दान सम्बन्धी पुण्य का संग्रह करने के लिए (१) अतिथि का प्रतिग्रह (पडगाहना) (२) उच्च स्थान पर बैठाना (३) पाद प्रक्षालन करना (४) दाता द्वारा अतिथि की पूजा होना (५) नमस्कार करना (६) मनः शुद्धि (७) वचन शुद्धि (८) काय शुद्धि और (९) आहार शुद्धि ये नौ प्रकार जानने योग्य है। दान देने से जो पुण्य सचित होता है, वह दाता के लिए स्वर्गादि फल देकर अन्त में मोक्षफल देता है (१)।

जिस दिन भगवान को आहार हुआ, उस दिन वैसाख शुक्ल तृतीया थी। राजा श्रेयांस के यहाँ उस दिन रसोईगृह में भोजन अक्षीण हो गया। अतः इसे आज भी लोग 'अक्षय तृतीया पर्व' कहते हैं। भरतक्षेत्र में इसी दिन से दान देने की प्रथा प्रचलित हुई। यह पर्व जैनसमाज की भाँति हिन्दू समाज में भी मनाया जाता है। बुंदेलखण्ड में यह पर्व अख्ती' या 'अकती' के रूप मे प्रसिद्ध है। ये दोनों ही शब्द अक्षयतृतीया के ही अपभ्रष्ट रूप है। ऐसी मान्यता है कि तीर्थंकर मुनि को प्रथमबार आहार देने वाला दाता उसी पर्याय से या तीसरी पर्याय से मोक्ष प्राप्त करता है। कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है कि भगवान् को मुनि अवस्था में दान देकर राजा श्रेयान्स ने अक्षय पुण्य (जिसका फल मोक्ष प्राप्ति है) प्राप्त किया था, अतः यह तिथि अक्षय तृतीया कहलाती है।

अक्षय तृतीया को लोग इतना अधिक शुभ मानते हैं कि इस दिन युवा पुत्र या पुत्री का विवाह बिना लग्न संशोधन के भी किया जाता है। नवीन मकान, दुकान या अन्य नए कार्य का मुहूर्त भी इस दिन करने में लोग गौरव मानते हैं और उनका विश्वास है कि इस दिन प्रारम्भ किया गया नया कार्य नियमतः सफल होता है।

---

१ हरिवश पुराण ६/१८०-२०१

कुछ स्थानों पर यह परम्परा है कि इस दिन मिट्टी के नए घड़ों का मुहूर्त अवश्य किया जाता है और उनके मुँह पर मिष्टान्न एवं पक्वान्न रखा जाता है जिसे बाद में दान कर दिया जाता है। इस प्रकार आहारदान के साथ इस पर्व की मान्यता जुड़ी हुई है। भगवान् का यह पारणा दिवस इतना प्रसिद्ध हुआ है कि लोकविजय यन्त्र जैसे प्राचीन ग्रन्थ का गणित इसी दिन को आदि दिन मानकर किया गया है। बतलाया गया है—

सिरि रिसहेसर सामिय पाराणयारब्ध गणियधुव्वंकं।
दिस इयरेहिं ठविय जंतं देवाण सारमिण ॥

अर्थ— यह वक्ष्यमाण यन्त्र, जो कि भगवान् ऋषभदेव स्वामी के पारणा समय से— अक्षय तृतीया के दिन उनकी प्रथम पारणा ग्रहण की बेला से गणित करके दिश। विदिशाओं में स्थापित किए हुए ध्रुवांकों को लिए हुए है, यह देवों का सार है—दैवाधीन घटनाओं का सूचक है।

जिस दिन उदयकाल में उक्त तृतीया हो उसी दिन अक्षय तृतीया का उत्सव सम्पन्न करना चाहिए। दान देना, पूजा करना अतिथि सत्कार करना आदि विधेय कार्यों को इस तिथि में करना चाहिए (१)।



ऋषभ जयन्ती पर्व

प्रतिवर्ष चैत्रकृष्ण नवमी को ऋषभ जयन्ती पर्व मनाया जाता है। इस दिन जैनधर्म के आदि प्रवर्त्तक तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ था। वर्तमान अवसर्पिणी के तृतीय काल में चौदह मनु (कुलकर) हुए, जिनमें चौदहवें कुलकर नाभिराय थे। इन्हीं नाभिराय और उनकी पत्नी मरुदेवी से चैत्रकृष्ण नवमी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र

१ व्रततिथिनिणय (डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री रचित प्रस्तावना) पृ. २६

और ब्रह्म नामक महायोग में मति, श्रुत और अवधिज्ञान के धारक पुत्र का जन्म अयोध्या में हुआ था। इन्द्रों ने बालक का सुमेरु पर्वत पर अभिषेक महोत्सव करके 'ऋषभ' यह नाम रखा।

ऋषभदेव के अनेक नाम

ऋषभदेव को हिरण्यगर्भ स्वयम्भू विधाता, प्रजापति, इक्ष्वाकु पुरुदेव, वृषभदेव, आदिनाथ इत्यादि अनेक नाम पाए जाते हैं। महापुराण के अनुसार चूंकि उनके स्वर्गावतरण के समय माता ने वृषभ को देखा था, अतः वे वृषभ नाम से पुकारे गए (१)। कल्पसूत्र में उपर्युक्त कारण के अतिरिक्त उनके उरुस्थल पर वृषभ का चिह्न होने का कारण भी उल्लिखित किया है (२)। भागवत् पुराण के अनुसार उनके सुन्दर शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश और पराक्रम प्रभृति सद्‌गुणों के कारण महाराजा नाभि ने उनका ऋषभ नाम रखा (३) वृषभदेव जगत् भर में ज्येष्ठ हैं और जगत् का हित करने वाले धर्मरूपी अमृत की वर्षा करेंगे, एतदर्थ ही इन्द्र ने उनका नाम वृषभदेव रखा (४)। वृष श्रेष्ठ को करते हैं। भगवान् श्रेष्ठ धर्म से शोभायमान हैं, इसलिए भी इन्द्र ने उन्हें वृषभस्वामी के नाम से पुकारा (५) जब वे गर्भ में थे तभी सबको हिरण्य-स्वर्ण

---

१ स्वर्गावतरणे द्रष्ट : स्वप्नेऽस्य वृषभो यतः।
जनन्यां तदय देवैः आहूतो वृषभाख्यया ॥ महापुराण १४।१६२

२ पूर्वं स्वप्नसमये वृषभस्य दर्शनात् पुत्रस्योभयोर्जङ्घयोः रोम्णाम् आवर्तभ्रमणावलोकाद् वृषस्यारकस्य लाञ्छनाद् नाभिकुलकरेण 'ऋषभ' इतिनाम दत्तम्।

३ तस्यह वा इत्थं वर्ष्मणा वरीयसा वृषच्छलोकेन चौजसा बलेन, श्रिया, यशसा, वीर्यशौर्याभ्यां च पिता ऋषभ इतीद नाम चकार।

४ वृषभोऽय जगज्ज्येष्ठो वर्षिष्यति जगद्धितम्।
धर्मामृतमितीन्द्रास्तम् अकाषुर्वृषभाह्वयम् ॥ महापुराण १४।१६०

५ वृषो हि भगवान्धर्मः तेन यद्भाति तीर्थकृत्।
ततोऽयं वृषभस्वामी त्याह्वास्तैर्न पुरन्दरः ॥ महापुराण १४।१६१

की वृष्टि हुई थी, इसलिए देवों ने उन्हें हिरण्यगर्भ कहा (६)। वर्तमान जन्म से पूर्व तीसरे जन्म में जो तीन ज्ञान प्रकट हुए थे। उन्हीं के साथ वे उत्पन्न हुए इसलिए स्वयम्भू कहे जाते हैं (७)। उन्होंने भरत क्षेत्र में नाना प्रकार की व्यवस्थायें कीं, अतः वे विधाता कहे जाते हैं (८)। वे सब ओर से प्रजा की रक्षा करते हुए अपूर्व ही प्रभु हुए, अतः प्रजापति कहलाते हैं (९)। उनके रहते हुए प्रजा ने इक्षु रस का आस्वादन किया, इसलिए उन्हें इक्ष्वाकु कहते हैं (१०)। वे समस्त पुराण पुरुषों में प्रथम थे, महिमा के धारक और महान् थे तथा अतिशय देदीप्यमान थे, अतः उन्हें पुरुदेव कहते हैं (११)। आवश्यक चूर्णि के अनुसार जब ऋषभदेव एक वर्ष से कुछ कम के थे, उस समय वे पिता की गोद में बैठे हुए क्रीड़ा कर रहे थे। शक्रेन्द्र हाथ में इक्षु लेकर आया। ऋषभदेव ने उसे लेने के लिए हाथ आगे बढ़ाया। बालक का इक्षु के प्रति आकर्षण देखकर शक्र ने इस वंश को इक्ष्वाकु वंश नाम से अभिहित किया (१२)। धर्म

---

१ हिरण्यवृष्टिरिष्टाभूद् गर्भस्थेऽपि यतस्त्वयि।
हिरण्यगर्भइत्युच्चैर्गीर्वाणैर्गीयसे ततः॥ हरिवंशपुराण ८/२०६

२ सह ज्ञानत्रयेणात्र तृतीयभवभाविना।
स्वयम्भूतो ऽतस्त्वं स्वयम्भूरिति भाष्यसे॥ वही ८।२०७

३ व्यवस्थानां विधाता त्वं भविता विविधात्मनाम्।
भारते यत्ततोऽन्वर्थं विधातेत्यभिधीयसे॥ वही ८।२०८

४ वही ८।२०९ ५, वही ८।२१० ६, वही ८।२११

७ भगवता लट्ठीसु दिट्ठी पाडिता। ताहे सक्केण भणियं– किं भगवं! इक्खुअकु। अकु भक्खणे, ताहे सामिणा पसत्थो लक्खणधरो अलंकित विभूसितो दाहिणहत्थो पसारितो, अतीव तम्मि हरिसो जातो भगवन्तस्स, तएणं सक्कस्स देविंदस्स अयमेयारूवे अत्थत्थितेजम्हा णं तित्थगरो इक्खु अभिलसति तम्हा इक्खागुवंसो भवतु, एवं सक्को वंसं ठवेऊण गतो अन्नेऽवि त कालं खत्तिया इक्खु भुञ्जन्ति तेण इक्खागवंसा जाता इति उवरिं आहारद्दारे निरुत्तंमि 'आसी य इक्खुभोती इक्खागा तेण खत्तिया होंति' भन्निही। आवश्यक चूर्णि पृ. १५२

कर्म के आदि निर्माता होने के कारण ऋषभदेव को आदिनाथ भी कहा जाता है है।

गृहस्थ जीवन

ऋषभदेव १५ वें मनु और प्रथम तीर्थंकर थे। जब वे युवा हुए तो नन्दा और सुनन्दा नामक यौवनवती कन्याओं के साथ उनका विवाह हुआ। नन्दा ने भरत नामक चक्रवर्ती पुत्र को ब्राह्मी नामक पुत्री को युगल रूप में उत्पन्न किया। इन्हीं भरत के नाम से इस देश का नाम भारत पड़ा। विष्णुपुराण में कहा गया है-

नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
तस्य नाम्ना त्विद वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥
(विष्णुपुराण द्वि. अ.)

सुनन्दा नामक दूसरी रानी ने बाहुबली नामक पुत्र तथा संसार में अतिशय रूपवती सुन्दरी नामक पुत्री को जन्म दिया। भरत और ब्राह्मी के अतिरिक्त नन्दा रानी के वृषभसेन आदि अट्ठानबे पुत्र और हुए। उनके ये सभी पुत्र चरमशरीरी (उसी जन्म से मोक्ष जाने वाले) थे। भगवान् ने अतिशय बुद्धि से सम्पन्न अपने समस्त पुत्रों के साथ-साथ ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दोनों पुत्रियों को अक्षर, चित्र, सङ्गीत और गणित आदि विद्यायें सिखाईं। लिपि विद्या को भगवान् ने विशेष रूप से ब्राह्मी को सिखाया, इसी के आधार पर उस लिपि का नाम ब्राह्मी लिपि पड़ गया। ब्राह्मी लिपि विश्व की आद्य लिपि है।

भगवान् ऋषभदेव के समय वन सभ्यता बिखर रही थी। जनसंख्या बढने लगी। उपभोक्ता अधिक होते जा रहे थे, परन्तु उनकी तुलना में उपभोग सामग्री अल्प थी। ऐसी स्थिति में संघर्ष अवश्यम्भावी था, और वह हुआ भी। क्षुधातुर जनता वृक्षों के बँटवारे के लिए लड़ने लगी सब ओर आपाधापी मच गई। भगवान् ऋषभदेव ने उक्त विषम स्थिति में अभावग्रस्त जनता का योग्य नेतृत्व किया। उन्होंने घोषणा की अकर्मभूमि का युग समाप्त हो रहा है, अब जनसमाज को कर्म-भूमि युग का स्वागत करना चाहिए। प्रकृति रिक्त नहीं है। अब भी उसके अन्तर में अक्षय भण्डार छिपा है। पुरुष हो, पुरुषार्थ

करो। अपने मन मस्तिष्क से सोचो विचारो और उसे हाथों से मूर्त रूप दो। श्रम में ही श्री है, अन्यत्र नहीं। एक मुख है खाने वाला तो हाथ दो हैं खिलाने वाले। भूखों मरने का प्रश्न ही कहाँ है ? अपने श्रम के बल पर अभाव को भाव से भर दो। भगवान् ऋषभदेव ने कृषि का सूत्रपात्र किया। अनेकानेक शिल्पों की अवतारणा की। कृषि और उद्योग में अद्भुत सामंजस्य स्थापित किया कि धरती पर स्वर्ग उतर आया। कर्मयोग की वह रसधारा बही कि उजड़ते और वीरान होते जन जीवन में सब ओर नव वसन्त खिल उठा, महक उठा (१)। जनता ने उन्हें अपना स्वामी माना और धीरे-धीरे बदलते हुए समय के अनुसार वर्णव्यवस्था, दण्ड व्यवस्था विवाह आदि समाज व्यवस्था का निर्माण हुआ।

ऋषभदेव विषयक मान्यतायें

भागवत पुराण में ऋषभदेव को विष्णु का आठवाँ अवतार स्वीकार किया गया है। यहाँ कहा गया है कि भगवान् विष्णु महाराजा नाभि का प्रिय करने के लिए उनके अन्त:पुर की महारानी मरुदेवी के गर्भ में आए। उन्होंने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्मो को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया (२)। यहाँ उनके ऊपर दुष्ट व्यक्तियों द्वारा किए गए अनेक दारुण उपद्रवों तथा भगवान् द्वारा उन्हें समता से सहलेने का वर्णन है (३)।

शिव महापुराण के अनुसार भगवान् श्री ऋषभदेव शिव के अट्ठाईस योगावतारों में आठवें योगावतार है (४। इसी प्रकार का कथन प्रभासपुराण में भी है (५) अग्निपुराण में लिखा है—

---

१ ऋषभदेव : एक परिशीलन (उपाध्याय अमरमुनिलिखित प्रस्तावना) पृ. १०-११

२ श्रीमद् भागवत् पंचमस्कन्ध।

३ वही ५।५।३०।५६४

४ शिवपुराण उत्तरखण्ड (वायुसंहिता) अ. ६ श्लो ३
वही ४ ४७।४८

५ कैलासे वृषमे रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः। चकार स्वावतारंच सर्वज्ञः सर्वग:शिवः॥ प्रभासपु. ४६

जरामृत्यु भयं नास्ति धर्माधर्मौ युगादिकम् ।
ना धर्मं महायमं तुल्याहिमहृशातु नाभितः ।
ऋषभो मरुदेव्या च वृषभात् भरतोऽभवत् ।।

इसके अतिरिक्त कूर्म पुराण, वाराहपुराण, मार्कण्डेयपुराण तथा वायुपुराण आदि में भी ऋषभदेव सम्बन्धी उल्लेख मिलते है। ऋग्वेद के हिरण्यगर्भसूक्त में कहा गया है–

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दधार पृथ्वीं उत द्याम्
कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

अर्थात् "हिरण्यगर्भ सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए, वह प्राणीमात्र के एक मात्र स्वामी थे। उन्होंने पृथ्वी और आकाश को धारण किया हम हवि के द्वारा किस देव को आराधना करें ।"

विक्रम की नौवीं शती के जैनाचार्य जिनसेन ने महापुराण में ऋषभदेव को हिरण्यगर्भ कहा है । जैन मान्यतानुसार जब ऋषभदेव गर्भ में आए तो आकाश मे स्वर्ण की वर्षा हुई, इसी से वे हिरण्यगर्भ कहलाए । 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' के 'कस्मै' शब्द के विषय में विद्वानों की अनेक धारणाये हैं । कुछ विद्वान् मानते हैं कि ऋग्वेद कालीन ऋषि स्वय कौतूहल या सन्देह युक्त है कि वह किस देव को हवि दे । उन्हे अपने आराध्य का असली या स्पष्ट स्वरूप ज्ञात नहीं है । एक विचारधारा के अनुसार कः शब्द प्रजापति का वाचक है । आचार्य समन्तभद्र ने जीने की इच्छा रखने वाली प्रजाओं को कृषि आदि कार्यो में लगाने के कारण ऋषभदेव को प्रजापति कहा है (१) । इस प्रकार कः शब्द का प्रजापति अर्थ ग्रहण करने पर इसे ऋषभदेव का वाचक माना जा सकता है ।

---

१ प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः ।
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ।
ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ।। वृहत्स्वयम्भू स्तोत्र– १

ऋषभदेव और शिव की एकता के लोगों ने अनेक प्रमाण दिए हैं, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं–

१. ऋषभदेव ने साधक अवस्था में नग्न दिगम्बर वेष को अपनाया। शिव भी दिगम्बर वेषधारी स्वीकार किए जाते हैं ?

२. ऋषभदेव की तप तथा निर्वाणभूमि कैलाशपर्वत मानी जाती है। शिव का भी निवास कैलाश माना जाता है। भगवान ऋषभदेव का कैलाशपर्वत से निर्वाण हुआ तो चक्रवर्ती भरत ने उनके निर्वाण कल्याणक के उपलक्ष्य में कैलाश पर्वत के आकार के गोल घण्टे लटकाए। इन्ही गोल घण्टों की पूजा बाद में शिवलिङ्ग के रूप में की जाने लगी हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

३. शिव का वाहन वृषभ है और ऋषभदेव का चिह्न भी वृषभ है।

४. हिमवत् पर्वत के पद्म द्रह से गंगा नदी निकल कर जिस स्थान पर गिरती है, वहाँ जटाजूट वाली खड्गासन अकृत्रिम ऋषभदेव की मूर्ति है (१)। शिव के जटाजूट में गंगावतरण कहा जाता है।

५. शिव के अन्धकासुर नाशक त्रिशूल से मिथ्यात्वान्धकार नाशक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय ग्रहण किए जा सकते हैं।

६. शिव के विषपान से ऋषभदेव के विकार पान का आशय है।

७. शिव को पशुपति कहा जाता है। ताण्ड्य और शतपथ ब्राह्मण में ऋषभ को पशुपति कहा है–

ऋषभो वा पशूनामधिपतिः।
ऋषभो वा पशूनां प्रजापतिः॥

श्री, यश, शान्ति, धन, आत्मा आदि अनेक अर्थों में पशु शब्द का व्यवहार वैदिक साहित्य में पाया जाता है। अतः पशुपति शब्द का अर्थ हुआ प्रजा, श्री, यश, धन, आत्मा आदि का स्वामी। चूँकि ऋषभ इन सबके स्वामी थे, अतः वे पशुपति कहलाए।

मोहन जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में खड़ी अवस्था में अंकित

---

१ तिलोयपण्णत्ती–२३०
त्रिलोकसार–५९०

मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जो कायोत्सर्ग मुद्रा को प्रकट करती हैं। मथुरा सग्रहालय में दूसरी शती की कायोत्सर्ग में स्थित वृषभदेव जिन की एक मूर्ति है। इस मूर्ति की शैली से सिन्धु से प्राप्त मोहरो पर अंकित खड़ी हुई देवमूर्तियो की शैली बिलकुल मिलती जुलती है। इन मूर्तियों के नीचे बैल भी अंकित हैं। जिसे भगवान ऋषभदेव के चिन्ह के रूप में माना जा सकता है। मोहन जोदड़ो से प्राप्त एक नग्न योगी की मूर्ति को श्री रामप्रसाद चन्दा ने ऋषभदेव की मूर्ति बतलाया है। कुछ विद्वान् इसे शिव की मूर्ति भी मानते हैं। हड़प्पा से प्राप्त नग्न कवन्ध को श्री रामचन्द्रन् ने ऋषभदेव की मूर्ति बतलया है। इस पर डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी जैसे विद्वानों ने अपना यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि यदि ये मूर्तियाँ ऋषभ का ही पूर्व रूप हैं तो शैवधम की तरह जैनधर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है। इससे सिन्धु सभ्यता एव ऐतिहासिक भारतीय सभ्यता के बीच खोई हुई कडी का भी एक उभय सांस्कृतिक परम्परा के रूप में उद्धार हो सकता है।

ऋषभदेव का वैराग्य

देवोपनीत दिव्यभोगों को भोगते हुए जब ऋषभदेव के जन्म से लेकर तेरासी लाख पूर्व व्यतीत हो गए तब इन्द्र को चिन्ता हुई कि मानवता का कल्याण करने के लिए तथा ससार को मुक्ति की राह दिखाने के लिए जिसका जन्म हुआ है, वह भोगों में लिप्त हो रहा है। अतः भगवान् को वैराग्योन्मुख करने के लिए इन्द्र ने एक नीलांजना नामक अप्सरा को नृत्य हेतु ऋषभदेव के राज्यदरबार मे भेजा उस अप्सरा की आयु अल्प थी, अत. वह नृत्य करते ही विलीन हो गई। इन्द्र ने तत्क्षण वैसा ही रूप धारण करने वाली दूसरी अप्सरा को नृत्य के लिए उपस्थित कर दिया। समय की क्षिप्रता के कारण इस बात को अन्य लोग नहीं जान सके। भगवान को यह देखकर संसार से विराग हो गया। तत्क्षण लौकान्तिक देव आए। उन्होंने भगवान् के वैराग्य की प्रशंसा की। वे देवों द्वारा लाई हुई शिविका पर चढ़कर सिद्धार्थ नामक वन में पहुँचे वहाँ उन्होंने अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रह का त्यागकर संयम धारण कर लिया। प्रजा ने उस

समय भगवान् की पूजा की। जिस स्थान पर प्रजा द्वारा भगवान् की पूजा की गई थी, वह स्थान प्रयाग नाम से प्रसिद्ध हुआ। भगवान् छह माह का कायोत्सर्ग लेकर मौन पूर्वक विराजमान हुए। कच्छ, महाकच्छ और मरीचि प्रभृति जिन राजाओ ने भगवान् के साथ प्रव्रज्या अङ्गीकार की थी वे क्षुधा आदि की वेदना को न सहकर भ्रष्ट हो गए। उन्होंने कुशा, चीवर वल्कल आदि धारण कर नग्नवेश त्याग दिया।

आहार प्राप्ति

छह माह बाद प्रतिमा योग का सकोच कर आहार के लिए चले। उस समय कोई आहार दान की विधि नहीं जानता था, अतः छह माह पृथ्वी पर निराहार विचरण करते रहे। अन्त मे पूर्वजन्म का स्मरण हो जाने पर राजा श्रेयान्स को आहारदान की विधि स्मृत हुई और उन्होंने उन्हें आहार दिया। सारी प्रजा ने खुशियाँ मनाई।

केवलज्ञान और निर्वाण

चार ज्ञान को धारण करने वाले भगवान् ऋषभदेव ने स्वयं मोक्षतत्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक हजार वर्ष तक नाना प्रकार का तप किया। लम्बी-लबी जटाओं के भार से सुशोभित आदि जिनेन्द्र उस समय जिसकी शिखाओं से पाये लटक रहे हो ऐसे वटवृक्ष के समान सुशोभित हो रहे थे। अनन्तर विहार करते हुए वे वृषभसेन के राज्य मे पूर्वताल पुर नगर में आए। वहाँ वे शकटास्य नामक उद्यान मे बड़ी तत्परता के साथ ध्यान धारण कर वटवृक्ष के नीचे एक शिला पर पर्यङ्कासन पर विराजमान हुए। उन्होंने क्षपक श्रेणि में प्रवेश कर मोह का नाश कर चार घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया। देवों ने उनकी सभा की रचना की। भव्यजीवों को उपदेश देते हुए अन्त में वे कैलाश पर्वत पर आरूढ हो गए और योगों का निरोधकर उन्होंने चार अघातिया कर्मों का नाश कर मुक्ति प्राप्त की। उनकी कुल आयु चौरासी लाख वर्ष पूर्व की हुई।

वर्तमान कर्मयुग और धर्मयुग के आदि सूत्रधार होने के कारण

ऋषभदेव मानव संस्कृति के आद्य स्रष्टा, विधाता और प्राण हैं। उनकी पावन जयन्ती हमें उन जैसा निस्पृह बनकर आत्मकल्याण का मार्ग अपनाने की प्रेरणा देती है। उनका पावन चरित्र स्पृहणीय और वन्दनीय है। हमें अत्यधिक श्रद्धा और भक्ति के साथ उनकी जयन्ती मनाना चाहिए।



ऋषभ निर्वाणोत्सव

प्रतिवर्ष माघकृष्ण चतुर्दशी को तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का निर्वाणोत्सव मनाया जाता है। तिलोयपण्णत्ती में कहा है–

माघस्य किण्ह चोद्दसि पुव्वण्हे णिययजम्मणक्खत्ते।
अट्ठावयम्मि उसहो अजुदेण समं गओ णोमि ॥
अधि. ४ गाथा ११८५

अर्थात् ऋषभदेव तीर्थंकर माघकृष्णा चतुर्दशी के पूर्वाह्नकाल में अपने जन्मनक्षत्र के रहते–उत्तराषाढ के वर्तमान रहते कैलाश पर्वत से दश हजार मुनियों के साथ निर्वाण को प्राप्त हुए। उनको मैं नमस्कार करता हूँ। आदिपुराण में भी इसी प्रकार उल्लेख है –

माघकृष्ण चतुर्दश्यां भगवान् भास्करोदये।
मुहूर्तेऽभिजिति प्राप्तपल्यङ्को मुनिभिः समम् ॥
प्राग्दिङ्मुखस्तृतीयेन शुक्लध्यानेन रुद्धवान्।
योगत्रितयमन्त्येन ध्यानेन घातिकर्मणाम् ॥ आदिपुराण ४७।३३८-३९

अर्थात् माघ चतुर्दशी के दिन सूर्योदय के समय शुभ मुहूर्त और अभिजित् नक्षत्र में भगवान् ऋषभदेव पूर्वदिशा की ओर मुँह कर अनेक मुनियों के साथ पर्यङ्कासन पर विराजमान हुए, उन्होंने तीसरे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामके शुक्लध्यान से तीनों योगों का निरोध किया और अघातिया कर्मों को नष्ट कर निर्वाण प्राप्त किया।

उपर्युक्त उल्लेखों पर विचार करते हुए डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने कहा है–तिलोयपण्णत्ती और आदिपुराण दोनों ही भगवान् ऋषभदेव

स्वामी के जन्म नक्षत्र को ही निर्वाण नक्षत्र माना है, किन्तु आदि पुराणकार जिनसेन अभिजित् नक्षत्र को भगवान् का निर्वाण नक्षत्र मानते हैं। अभिजित् नक्षत्र की ज्योतिष में भोगात्मक रूप में पृथक् स्थिति नहीं मानी गई है, क्योंकि अभिजित् नक्षत्र उत्तराषाढा की अंतिम १५ घटियाँ तथा श्रवण आदि की ४ घटियाँ, इस प्रकार कुल १९ घटी प्रमाण होता है। तिलोयपण्णत्ती में उत्तराषाढ का जिक्र है, अतः यहाँ स्पष्ट है कि भगवान् का निर्वाण उत्तराषाढा के अन्तिम चरण में हुआ है। यही अन्तिम चरण अभिजित् में आता है। अन्तिम चरण को शुभ माना जाता है तथा श्रवण का प्रथम चरण भी शुभ माना गया। इसी शुभत्व के कारण उत्तराषाढा के चतुर्थ चरण और श्रवण के प्रथम चरण की संज्ञा अभिजित् की गई है। अतएव दोनों कथनों में विरोध नहीं है (१)।

जन्म की अपेक्षा निर्वाण का अपना वैशिष्ट्य है। जन्म तो प्रत्येक प्राणी का होता है, किन्तु निर्वाण सबका नहीं होता है। जो व्यक्ति सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट कर लेता है और जिसके स्वरूप का आविर्भाव हो जाता है उसी का ही मोक्ष या निर्वाण होता है। बौद्धों ने जिस प्रकार प्रदीप निर्वाण कल्प आत्मनिर्वाण माना है, वैसा जैनों ने नहीं। जैनों के अनुसार निर्वाण अवस्था में भी आत्मा अपने सम्पूर्ण स्वभाव के आविर्भाव के साथ विद्यमान रहकर शाश्वत अविच्छिन्न सुखमय रहती है, केवल सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाता है। भगवान् की पूजा हम इसलिए करते हैं, क्योंकि उन्होंने उस मार्ग का उपदेश दिया, जिस पर चलकर निर्वाण प्राप्ति की जा सकती है।

भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान होने के बाद देवों ने बारह योजन विस्तार वाली धर्मसभा (समवसरण) की रचना की थी। समवसरण में बारह सभायें थीं। उनमें दायी ओर से लेकर १- मुनि २- कल्पवासिनी देवियाँ, ३- आर्यिकायें, ४- ज्योतिषी देवों की देवियाँ ५- व्यन्तर देवों की देवियाँ, ६- भवनवासी देवों की देवियाँ ७- भवनवासी देव ८- व्यन्तर देव ९- ज्योतिषी देव १०— कल्पवासी देव

---

१ व्रत तिथि निर्णय (प्रस्तावना) पृ. २६-२७

११- मनुष्य और १२- तिर्यंच ये बारह गण अपने अपने स्थानों पर बैठे। भगवान् ने संसार सागर को पार करने वाला तीर्थ दिखलाया। उनके प्रभाव से संसार के सब जीवों ने गूढ अर्थ को भी सरलता से देखा। उन्होंने सागार और अनगार धर्म, ज्ञान और उसके भेद, रत्न-त्रय इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला। प्रमाण के द्वारा जाने हुए पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है और शुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति होना सम्यक् चरित्र कहलाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों मोक्ष प्राप्ति के उपाय हैं, इसलिए उत्तम सम्पदा की इच्छा रखने वाले पुरुष को इनका श्रद्धान् तथा तदनुरूप आचरण करना चाहिए। इन तीनों से बढ़कर दूसरा मोक्ष का कारण न है, न था और न होगा। यही सबका सार है। इस प्रकार आदि जिनेन्द्र के वचन का पानकर तीनों जगत् सन्देह रूपी रोग से छूटकर अपने को मुक्त सा अनुभव करने लगा। कितने ही लोग अपने धारण किए हुए व्रत में दृढ़ हो गए, कितनों ही ने नए व्रत धारण किए।

भगवान् की उपदेश सभा की यह विशेषता थी कि परस्पर के विरोधी तिर्यंच भी मित्र के समान बैठते थे। उनके वृषभसेन आदि ८४ गणधर (प्रमुख शिष्य) थे। उनकी सभा में सात प्रकार के मुनियों का संघ था। उनमें चार हजार सात सौ पचास पूर्वधर थे, चार हजार सात सौ पचास मुनि श्रुत के शिक्षक थे। नौ हजार मुनि अवधिज्ञानी थे, बीस हजार केवलज्ञानी थे, बीस हजार छह सौ विक्रिया ऋद्धि के धारक थे। बीस हजार सात सौ पचास विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान के धारक थे, बीस हजार सात सौ पचास हेतुवाद के ज्ञाता वादी थे, शुद्ध आत्मतत्त्व को जानने वाली पचास हजार आर्यिकायें थीं, पाँच लाख श्राविकायें थीं और तीन लाख श्रावक थे। भगवान् की कुल आयु ८४ लाख पूर्व की थी। उनकी मोक्षप्राप्ति के अनन्तर मुनियों के श्रेष्ठ संघ, देवों के समूह और चक्रवर्ती आदि प्रमुख राजाओं के समूह इत्यादि ने भक्तिवश गन्ध, पुष्प, सुगन्धित धूप उज्ज्वल अक्षत तथा देदीप्यमान दीपक के द्वारा उनके शरीर की पूजा की तथा नमस्कार कर याचना की हमें भी आपके गुण रूप फल की प्राप्ति हो। इसी समय से प्रतिवर्ष भक्तजन भगवान् ऋषभदेव का

निर्वाण महोत्सव मनाते चले आ रहे हैं। इस दिन प्रातःकाल सूर्योदय के समय नित्यपूजन के उपरान्त भगवान् ऋषभदेव की पूजा करना चाहिए। अनन्तर सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगिभक्ति, निर्वाण भक्ति, या निर्वाण काण्ड पढ़कर पूजन समाप्त करना चाहिए। इस दिन होम वगैरह भी किया जा सकता है। ऋषभदेव के जीवन दर्शन पर सभायें, गोष्ठियाँ इत्यादि का आयोजन इस दिन अवश्य करना चाहिए।



देखो जी आदीश्वर स्वामी..........

देखो जी आदीश्वर स्वामी, कैसा ध्यान लगाया है
कर ऊपर कर सुभग विराजे, आसन थिर ठहराया है ॥टेक॥
जगत-विभूति भूति सम तजिकर, निजानन्द पद ध्याया है।
सुरभित श्वासा आशावासा, नासादृष्टि सुहाया है ॥१॥
कञ्चन वरन चलै मन रञ्च न, सुरगिर ज्यों थिर थाया है।
जास-पास अहि-मोर मृगी-हरि, जाति विरोध नसाया है ॥२॥
शुभ उपयोग हुताशन में जिन, वसुविधि समिध जलाया है।
स्यामलि अलिकावलि सार सोहै, मानो धुआँ उड़ाया है ॥३॥
जीवन-मरन-अलाभ-लाभ जिन तृन-मनि को सम भाया है।
सुर-नर-नाग नमहिं पद जाके 'दौल' तास जस गाया है ॥४॥

